आचार्यप्रवर श्री आनन्दऋषि अमृत महोत्सव के उपलक्ष में

आनन्द वाणी

प्रवचनकार

आचार्यप्रवर श्री आनन्द ऋषि

सम्पादक

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्राक्कथन

वाणी मानवजाति के लिए अमूल्य देन है। ससार के सभी प्राणियों की अपेक्षा मानव को अपने मनोभावों को अभिव्यक्त करने के लिए उत्तम वाणी मिली है। परन्तु मनुष्य आज उस वाणी का उतना सदुपयोग नहीं करता, जितना उसे करना चाहिये। दूसरों को सच्ची सलाह देने, सत्य बोलने, सच्ची राह बताने, भगवद्वाणी सुनने, उपदेश एव प्रेरणा देने, नैतिक एव धार्मिक जीवन की ओर मोड़ने, स्वपर कल्याण का मार्ग बताने, गुणिजनों की प्रशसा करने, अच्छे कार्य के लिए प्रोत्साहित करने आदि अच्छी प्रवृत्तियों मे वाणी का प्रयोग करना ही वास्तव मे सदुपयोग है। इसी मे जीवन की सार्थकता है।

गौतम स्वामी को सम्बोधित करके भगवान् महावीर द्वारा प्रयुक्त वाणी लाखों-करोड़ो मानवों का कल्याण करने वाली बन गई। इसीलिए भगवान् महावीर की 'अपृष्टव्याकरणा' (बिना पूछे हुए स्वत प्रेरणा से प्रयुक्त) वाणी उत्तराध्ययन के रूप मे प्रस्फुटित हुई। और उसका प्रयोजन प्रश्न-व्याकरण सूत्र के रचनाकार ने बता दिया—

'सव्व जग जीवरक्खणदयट्ठयाए पावयण भगवया सुकहिय' अर्थात्—जगत् के समस्त जीवों की रक्षा और दया से प्रेरित होकर भगवान् ने प्रवचन (प्रकर्ष वाणी प्रयोग) किया।

बादलों का पानी और सन्तों की वाणी पर प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार होता है। वह किसी एक व्यक्ति के लिए या एक ही व्यक्ति के ठेके मे नहीं होती, सभी उसे सुन सकते हैं, सभी उससे लाभ उठा सकते हैं। वास्तव मे सन्त समदर्शी और समभावी होते हैं, वे किसी प्रकार के भेदभाव के बिना अपनी वाणी का लाभ आबालवृद्ध-वनिता को देते हैं। इसी के साक्षी रूप मे आचाराग सूत्र का यह सूत्र प्रस्तुत है—

"जहा पुण्णस्स कत्थई, तहा तुच्छस्स कत्थई।
जहा तुच्छस्स कत्थई, तहा पुण्णस्स कत्थई॥"

वाणी वही उत्तम और प्रभावशालिनी मानी जाती है। जो श्रोता की भूमिका, स्थिति, पात्रता, क्षेत्र, अवसर, और भावना को देखकर कही गई हो। पूज्य आचार्य श्रीजी महाराज की वाणी मे यह विशेपता है। वे जब भावविभोर होकर अपनी बात श्रोताओ के सामने कहने लगते है तो श्रोता को अपने जीवन की उलझी हुई गुत्थी सुलझती सी लगती है।

कभी उनकी वाणी वीर-गम्भीर होकर तत्वज्ञान की गहन बातो को सरलतम शब्दो मे कहने लगती है, तो कभी उनकी वाणी रूढिग्रस्त लोगो की ओर उन्मुख होकर बरसती है। कभी वे धर्मान्धता पर अपनी तेजस्वीवाणी से प्रहार करते प्रतीत होते है तो कभी उनकी वाणी वर्तमान धर्मविहीन जनता और नीतिविहीन युग का विश्लेपण करती मालूम होती है। सामाजिक, धार्मिक राजनैतिक, सास्कृतिक, आध्यात्मिक आदि के भी क्षेत्र का कोई भी कोना नह छोडा जो आपकी वाणी का विपय न बना हो।

'आनन्दवाणी' उसी श्रेणी की अनुपम कृति है, जिसमे आपके खास-खा प्रवचनो का सरस सकलन हुआ है। इसका सम्पादन भी 'सरस' जी के सुयोग हाथो द्वारा हुआ है।

आपके इन प्रवचनो से आम जनता भी लाभ उठा सकती है। इसलि आनन्दवाणी प्रत्येक व्यक्ति को आनन्ददायिनी होने के कारण अपना ना सार्थक करने वाली है। आपकी अनुभवपूत वाणी के अनुसार अपने जीवन व बनाने वाले व्यक्ति का जीवन भी आनन्ददायी हुए बिना नही रहता।

आनन्दवाणी का ग्रन्थविमोचन समारोह श्रद्धेय पूज्य आचार्य श्री आन ऋषिजी महाराज के ७५ वे जन्मदिवस श्रावण शुक्ला प्रतिपदा को हो रहा यह भी सोने मे सुगन्ध-सा अवसर है।

आशा है, जिज्ञासुजन इससे लाभान्वित होकर अपना जीवन सफल बनाएँ

जैनभवन, लोहामडी
आगरा—२
ता० ७-७-१९७५

—मुनि नेमिच

आचार्यप्रवर श्री आनन्दऋषि

आनन्द वाणी

अनुक्रम

देता है, पुण्य और आनन्द से परिपूर्ण जान पड़ेगा। दृष्टि के बदलते ही उसकी भावनाएँ बदल जायेंगी और मानने लगेगा—

'सभी सम्भव संसारों में यह संसार सर्वोत्तम है और इसमें सभी वस्तुएँ सर्वोत्तम के लिए है।' —वाल्टेयर

पर दृष्टि को बदलें कैसे? उत्तर यही है—उपदेश के द्वारा। वीतराग प्रभु उपदेश किस लिए देते है? प्राणियों को सन्मार्ग पर लाने तथा उनकी दोष-दृष्टि को गुण-दृष्टि में बदलने के लिए। उन्हे अन्धकार से प्रकाश में लाने के लिए ही वे उपदेश देते है।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के बत्तीसवे अध्ययन में कहा है—

> नाणस्स सव्वस्स पगासणाए,
> अन्नाण मोहस्स विवज्जणाए।
> रागस्स दोसस्स य सखएण,
> एगन्त सोक्ख समुवेइ मोक्ख ॥

भगवान का उपदेश इसलिए है कि ज्ञान का प्रकाश हो, अज्ञान और मोह का नाश हो, राग और द्वेष दोनों का पूर्णतया क्षय हो, तभी एकान्त सुख रूप मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

उपदेश का असर किस पर होता है?

संसार में उपदेशों की कमी नहीं। तीर्थंकर श्रमण भगवान महावीर द्वारा दिये गये उपदेश जिनवाणी के रूप में हमारे समक्ष आते है। सन्त महापुरुष भी उपदेश देते आये है और आज भी देते है, पर उन्हे ग्रहण करने वाले विरले ही होते है। उपदेश वे ही ग्रहण करते है, जो भव्य जीव होते है। अभव्य को उपदेश नहीं लगता।

भव्य और अभव्य में क्या अन्तर है? जो भव्य करके मोक्ष में जाने वाला है, वह भव्य और जो सब करके भी मोक्ष में नहीं जा सकता, वह अभव्य कहलाता है।

आँखें बन्दकर लेता है, उसकी ओर देखता ही नहीं। तो बताओ इसमें सूर्य का क्या दोष है? उसका काम प्रकाश करना है और उसने अपना कर्तव्य पूरा किया अर्थात् प्रकाश फैलाया पर कोई उससे लाभ न उठाये तो वह क्या करे?

सूर्य के समान ही मेघ भी सम्पूर्ण पृथ्वी पर समान वृष्टि करता है। अपनी ओर से वह भूमि के प्रत्येक स्थान को सरस बनाने और प्रत्येक प्राणी को आह्लादित करने का प्रयत्न करता है, किन्तु अगर चातक के मुँह में जल की बूंद न गिरे तो मेघ क्या करे? चातक केवल स्वाति नक्षत्र का जल ही लेता है, दूसरा नहीं और इस कारण प्यासा मरता रहता है, पर इसमें मेघ का क्या दोष है? कुछ भी नहीं। इसी प्रकार सन्त पुरुष सभी प्राणियों को एक-सा उपदेश देते हैं, उन्हें समझाने का प्रयत्न करते हैं तथा सन्मार्ग सुझाते हैं। जबकि भव्य प्राणी थोड़ा-सा सुनकर भी तुरन्त सावधान होकर अपनी दिशा बदल लेते हैं, अभव्य और दुराचारी व्यक्तियों के हृदय पापों के परिणामों को सुनकर भी भयभीत नहीं होते, द्रवित नहीं होते तो सद्बोधन और सदुपदेशों का क्या दोष है?

श्री भर्तृहरि ने सत्य ही कहा है—

प्रसह्य मणिमुद्धरेन्मकर वक्त्र दंष्ट्राकुरात्-
समुद्रमपि सन्तरेत् प्रचलदूर्मिमालाकुलम्
भुजङ्गमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद्धारयेत्।

अर्थात् मनुष्य मगर के मुख में से बल पूर्वक मणि निकाल सकता है और भयंकर लहरें उठती हों ऐसे दुस्तर समुद्र को भी पार कर सकता है, क्रोधित सर्प को पुष्प की भाँति सिर पर धारण कर सकता है, परन्तु हठी मूर्खों के चित्त को नहीं, बदल सकता।

ऐसे व्यक्ति सन्तों की नसीहत और उपदेशों से कोई लाभ नहीं उठा पाते, [illegible] सकेगी। ऐसी स्थिति में गुरु क्या कर सकता

भव्य जीवन की झांकी

भव्य प्राणियों का जीवन ऐसा ही होता है। निकट भविष्य में ही जिनकी आत्मा संसार मुक्त होने वाली होती है, वे किसी साधारण संयोग से ही चेत जाते हैं और समस्त सांसारिक सुखों को तिलांजलि देकर साधना में जुट जाते हैं और ऐसा होने पर ही आत्म-कल्याण हो सकता है। जब तक जल में डूबे हुए प्राणी की छटपटाहट के समान जीव को इस संसार-सागर से उबरने की छटपटाहट नहीं होती, तब तक वह आत्म-मुक्ति के प्रयत्न में संलग्न नहीं हो सकता। कहा भी है—

> धन धान तजे गृह छोरि भजे जिनराज के नाम लग्यो मन है।
> शुद्ध सम्यक् ज्ञान विराग सधे न करे परमाद इको छिन है॥
> निशवासर दुष्कर धारत कष्ट अनित्य लगे मनुजा तन है।
> जिन आन अभंगित शीश धरे शिव पामिवे को यह साधन है॥

सर्प जिस प्रकार अपनी केंचुली का त्याग करके पुनः पीछे फिरकर नहीं देखता और वहां से सरपट भाग जाता है, इसी प्रकार जब प्राणी धन-धान्य-पूर्ण गृह एवं सांसारिक सम्बन्धियों के प्रति मोह ममता को त्यागकर बिना उनकी ओर मुड़कर देखे भागकर भगवान से लौ लगा लेता है तभी वह साधना के कठोर पथ पर चल सकता है।

जो जीव सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति कर लेते हैं और वैराग्य में रमण करने लगते हैं वे एक क्षण का भी प्रमाद किए बिना शरीर को अनित्य मानकर दुष्कर तपादि करते हुए उसका पूरा लाभ उठाते हैं। उनकी आत्मा कभी भी डिगती नहीं, यहां तक कि धर्म के लिए समय आने पर प्राणों का त्याग करने में भी नहीं हिचकिचाते। ऐसा उत्कृष्ट संयम पालन ही शिवगति की प्राप्ति का साधन बन सकता है। किन्तु जो जीव अभवी होते हैं अर्थात् भविष्य में जिनके छुट-

भव्य जीवन की झाँकी

भव्य प्राणियों का जीवन ऐसा ही होता है। निकट भविष्य में ही जिनकी आत्मा संसार मुक्त होने वाली होती है, वे किसी साधारण संयोग से ही चेत जाते हैं और समस्त सांसारिक सुखों को तिलांजलि देकर साधना में जुट जाते हैं और ऐसा होने पर ही आत्म-कल्याण हो सकता है। जब तक जल में डूबे हुए प्राणी की छटपटाहट के समान जीव को इस संसार-सागर से उबरने की छटपटाहट नहीं होती, तब तक वह आत्म-मुक्ति के प्रयत्न में संलग्न नहीं हो सकता। कहा भी है—

> **धन धान तजे गृह छोरि भजे जिनराज के नाम लग्यो मन है।**
> **शुद्ध सम्यक् ज्ञान विराग सधे न करे परमाद इको छिन है॥**
> **निशवासर दुष्कर धारत कष्ट अनित्य लगे मनुजा तन है।**
> **जिन आन अमोरिस शीश धरे शिव पामिवे को यह साधन है॥**

सर्प जिस प्रकार अपनी केंचुली का त्याग करके पुनः पीछे फिरकर नहीं देखता और वहाँ से सरपट भाग जाता है, इसी प्रकार जब प्राणी धन-धान्य-पूर्ण गृह एवं सांसारिक सम्बन्धियों के प्रति मोह ममता को त्यागकर बिना उनकी ओर मुड़कर देखे भागकर भगवान में लौ लगा लेता है तभी वह साधना के कठोर पथ पर चल सकता है।

जो जीव सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति कर लेते हैं और वैराग्य में रमण करने लगते हैं, वे एक क्षण का भी प्रमाद किये बिना शरीर को अनित्य मानकर दुष्कर तपादि करते हुए उसका पूरा लाभ उठाते हैं। उनकी आत्मा कभी भी डिगती नहीं, यहाँ तक कि धर्म के लिए वे समय आने पर प्राणों का त्याग करने में भी नहीं हिचकिचाते। ऐसा उत्कृष्ट संयम पालन ही शिवगति की प्राप्ति का साधन बन सकता है। किन्तु जो जीव अभव्य होते हैं अर्थात् भविष्य में जिनके छुट-

श्रवण करने मे और न ही निरन्तर उपदेशो के द्वारा बोध दिलाने का प्रयत्न करने मे ही कोई लाभ होता है।

नीम न मीठो होय

ऐसा जीव कोटि प्रयत्न करने पर भी पूर्ववत् बना रहता है, रंचमात्र भी अपने आपको नही बदल पाता है। शास्त्र बताते है और आपको भी ज्ञात होगा कि राजा श्रेणिक ने अपने नरक का बंध तोड़ने के लिए क्या-क्या किया था ?

जब भगवान ने बताया कि 'तुम मरकर नरक मे जाओगे' तो श्रेणिक को बडा दुःख हुआ और उन्होंने भगवान से उस दुखदायी नरक मे बचने का उपाय पूछा।

भगवान महावीर ने राजा को चार उपाय नरक मे छुटकारा पाने के बताये। जिनमे एक था श्रेणिक की दादी को भगवान के दर्शन कराना और दूसरा था उनकी कपिला दासी के हाथ से दान दिलाना।

उपाय सरल थे। राजा श्रेणिक ने सोचा—'यह कौनसी बडी बात है ? मैं दादी जी को एक बार तो क्या, कई बार भगवान के दर्शन करा दूंगा और दासी तो मेरी सेविका ही है, उसके हाथ से चाहे जितना दान दिला दूंगा।

अत्यन्त प्रसन्न होकर राजा श्रेणिक पहले अपनी दादी के पास आ पहुंचे और बोले—'दादी जी ! आप मेरा सुख चाहती है या दुःख ?'

'बेटा, यह कैसी बात है ? मैं तो तेरा सुख ही चाहती हूं।'

'तो फिर एक बार भगवान के दर्शन करने चलो।' राजा श्रेणिक ने मौका पाते ही कह दिया, पर दादी जी तो जैसे साप की पूंछ पर पैर पड गया हो, इस प्रकार चौंक कर बोली—

'ऐसी बात तू मत कर ! मैने अपनी जिन्दगी मे कभी भी दर्शन-वर्शन नहीं किए, अब बुढापे मे अपनी रीति नही तोडूंगी और फिर भगवान के दर्शन कर

अनुशासन शब्द मे केवल पाच अक्षर है, किन्तु य अपने आप मे बडा महत्त्व छिपाये हुए है। समाजनीति, राजनीति और धर्मनीति सभी मे इनकी बडी आवश्यकता रहती है। इनके बिना कही भी काम नही चलता।

समाजनीति मे अगर पुत्र माता-पिता व गुरुजनो की आज्ञा का पालन नहीं करता है तो वह कुपुत्र कहलाता है। राजनीति मे शासन-व्यवस्था के अतर्गत काम करने वाले कर्मचारी राजा अथवा सरकार की आज्ञा का पालन नही करते तो गद्दार कहलाते है तथा धर्मनीति मे वीतराग के वचनो और धर्माचार्यों की आज्ञा का पालन नही करने वाले नास्तिक या मिथ्यात्वी साबित होते है और अत मे उनकी क्या दशा होती है—

जहा सुणी पुई कण्णी निक्कसिज्जइ सव्वसो ।
एव दुस्सील पडिणीए मुहरी निक्कसिज्जइ ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र, अ १, गा ४

जिस प्रकार सडे कान वाली कुतिया प्रत्येक स्थान से खदेडकर निकाल दी जाती है, उसी प्रकार अविनीत और अनुशासन मे न रहने वाले शिष्य भी सभी जगह से निकाल दिये जाते है। अत आवश्यक है—

अणुसासिओ न कुप्पेज्जा खति सेविज्ज पण्डिए ।

—उत्तराध्ययन सूत्र, अ १, गा ९

गुरुजनो की आज्ञा को सुनकर कुपित न हो तथा क्षमा धारण करे। जो क्षमा रखता है, वही पण्डित है।

कथन का सारांश यही है कि प्रत्येक मनुष्य का उतना विवेक और बुद्धि तो होना ही चाहिए कि वह गुरुजनो की आज्ञा को अपने लिये हितकारी माने और उसके अनुसार चलने का प्रयत्न करे। अन्यथा गुरु उन्हे क्या शिक्षा देंगे और शास्त्रो के वाचन का भी उन पर क्या प्रभाव पडेगा?

बन्धुओ! विनयगुण सहित उत्तम जाति, उत्तम कुल, परिपूर्ण इन्द्रिया,

अनुशासन शब्द मे केवल पाच अक्षर है, किन्तु ये अपने आप मे बडा महत्त्व छिपाये हुए है। समाजनीति, राजनीति और धर्मनीति सभी मे इनकी बडी आवश्यकता रहती है। इनके बिना कही भी काम नहीं चलता।

समाजनीति मे अगर पुत्र माता-पिता व गुरुजनो की आज्ञा का पालन नहीं करता है तो वह कुपुत्र कहलाता है। राजनीति मे शासन-व्यवस्था के अतर्गत काम करने वाले कर्मचारी राजा अथवा सरकार की आज्ञा का पालन नहीं करते तो गद्दार कहलाते है तथा धर्मनीति मे वीतराग के वचनो और धर्माचार्यो की आज्ञा का पालन नहीं करने वाले नास्तिक या मिथ्यात्वी साबित होते है और अत मे उनकी क्या दशा होती है—

जहा सुणी पुई कण्णी निक्कसिज्जइ सव्वसो।
एव दुस्सील पडिणीए मुहरी निक्कसिज्जइ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र, अ १, गा ४

जिस प्रकार सडे कान वाली कुतिया प्रत्येक स्थान से खदेडकर निकाल दी जाती है, उसी प्रकार अविनीत और अनुशासन मे न रहने वाले शिष्य भी सभी जगह से निकाल दिये जाते है। अत आवश्यक है—

अणुसासिओ न कुप्पेज्जा खति सेविज्ज पण्डिए।

—उत्तराध्ययन सूत्र, अ १, गा. ६

गुरुजनो की आज्ञा को सुनकर कुपित न हो तथा क्षमा धारण करे। जो क्षमा रखता है, वही पण्डित है।

कथन का सारांश यही है कि प्रत्येक मनुष्य को इतना विवेक और बुद्धि तो होना ही चाहिए कि वह गुरुजनो की आज्ञा को अपने लिए हितकारी माने और उसके अनुसार चलने का प्रयत्न करे। अन्यथा गुरु उन्हे क्या शिक्षा देंगे और शास्त्रो के वाक्यो का भी उन पर क्या प्रभाव पडेगा?

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] कुल, परिपूर्ण इन्द्रिया,

सत्संगति पाकर भी उनसे लाभ नही उठा पाते। वे अपने मिथ्याज्ञान के अभिमान मे चूर रहकर समस्त क्रियायें ऐसी करते हैं, जिनके कारण उनका ससार घटने के बजाय बढता जाता है तथा महान् कठिनाई मे मिला हुआ मानव-जन्म निष्फल चला जाता है। इसीलिये प्रत्येक व्यक्ति को अगर अपने अमूल्य जीवन का लाभ उठाना है तो शास्त्र-श्रवण के साथ-साथ उसकी शिक्षाओ को भी ग्रहण करना चाहिये। मैंने अभी बताया है कि शास्त्रो की सबसे पहली शिक्षा अनुशासन मे रहना या आज्ञा का पालन है।

अब हम यह देखे कि किन गुणो को धारण करने वाला अनुशासन मे रह सकता है।

अनुशासन मे वही व्यक्ति रह सकता है, जिसके हृदय मे श्रद्धा और विनय हो। इन दोनो के अभाव का अर्थ होता है अहकार का होना और अहकारी व्यक्ति कभी अनुशासन मे नही रह सकता तथा गुरुजनो की आज्ञा का पालन नही कर सकता।

सद्धा परम दुल्लहा

आज का भारतीय जीवन जो इतना श्रीहीन, शक्तिहीन, क्षीण और दलित हो गया है, उसका प्रधान कारण है मनुष्यो के हृदयो मे श्रद्धा का अभाव होना। अश्रद्धा और सदेह से परिपूर्ण हृदय वाले व्यक्ति सामाजिक, राजनीतिक या धार्मिक किसी भी क्षेत्र मे प्रगति नही कर पाते हैं। क्योकि वास्तविक शक्ति का स्रोत आत्मा है और श्रद्धा के अभाव मे आत्मबल का कुछ भी उपयोग नही हो सकता। श्रद्धा या विश्वास के अभाव मे सदेह का अधकार व्यक्तियो को पथभ्रष्ट कर देता है और यह कहावत चरितार्थ हो जाती है—

'दुविधा मे दोनो गये, माया मिली न राम।'

श्रद्धा ही जीवन की रीढ है। रीढ के बिना जिसप्रकार शरीर गति नही करता, उसीप्रकार श्रद्धा के अभाव मे जीवन गति नही करता। श्रद्धा ही मनुष्यता का सृजन करती है और वही उसे कल्याण के पथ पर अग्रसर करती

है। जिस व्यक्ति के हृदय मे श्रद्धा नही होती, उसका मन पारे के समान चचल बना रहता है। उसके विचारो मे तथा क्रियाओ मे कभी स्थिरता और दृढता नही आ पाती। इस कारण वह एकनिष्ठ होकर किसी भी साधना मे नही लग पाता है। परिणाम यह होता है कि वह अपने किसी भी उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर पाता है। इसके विपरीत जो श्रद्धावान होता है वह अपने अटल विश्वास के द्वारा इच्छित लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। कहा भी है—

श्रद्धावाल्लभते ज्ञान, तत्पर सयतेन्द्रिय·।
ज्ञान लब्ध्वा परा शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

—भगवद्गीता

जिस व्यक्ति का अन्तःकरण श्रद्धा से पूर्ण होता है, वह सम्यक्ज्ञान प्राप्त करता है और सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके शीघ्र ही अक्षय शान्ति अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करने का अधिकारी भी बन जाता है।

यह सारी करामात श्रद्धा की है। श्रद्धा के न होने पर मनुष्य कितनी भी विद्वता क्यो न पा ले उसका कोई भी लाभ नही होता। श्रद्धावान विद्वान न होने पर अपना कर्मनाश करके ससार-सागर को पार कर लेता है और श्रद्धा के बिना विद्वान् उसमे गोते लगाता रहता है। एक आचार्य ने लिखा है—

अश्रद्धा परम पाप श्रद्धा पापप्रमोचिनी।
जहाति पाप श्रद्धावान् सर्पोजीर्णमिव त्वचम् ॥

अश्रद्धा घोर पाप है और श्रद्धा समस्त पापो का नाश करने वाली है। श्रद्धालु पुरुष समस्त पापो का उसी प्रकार त्याग कर देता है, जिस प्रकार सर्प अपनी केंचुली को छोड देता है।

अभिप्राय कहने का यही है कि अगर मनुष्य अपने जीवन मे किसी भी प्रकार की सिद्धि प्राप्त करना चाहता है तो उसे सर्वप्रथम श्रद्धावान बनना चाहिए। श्रद्धा के बिना उसमे दृढता, साहस, शक्ति और साहस आदि

उत्पन्न न होगा और उन सबके अभाव मे सिद्धि कोसों दूर रह जायगी। इसीलिए ससार के सभी धर्मग्रन्थ श्रद्धा पर बल देते है। महाभारत मे कहा है—

श्रद्धाऽमयोऽय पुरुष यो यच्छ्रद्ध स एव स ।

यह आत्मा श्रद्धा का ही पुतला है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वह वैसा ही बन जाता है।

सिक्ख धर्म कहता है—

निश्चल निश्चय नित चित जिनके।
वाहि गुरु सुखदायक तिनके ॥

वे ही मनुष्य सुख की प्राप्ति कर सकते है, जिनके हृदय श्रद्धा से परि-पूर्ण है।

ईसाई धर्म कहता है—

'एक श्रद्धाहीन मानव अपने समस्त कृत्यो मे चलायमान रहता है। उसके दिल या दिमाग किसी मे भी स्थिरता नही होती।'

—जेम्स एल ८

जैनशास्त्र तो श्रद्धा को धर्म का मूल ही मानते है। वे कहते है—

सद्धा परम दुल्लहा।

श्रद्धा अत्यन्त दुर्लभ है, जिसने अतिशय पुण्यो का उपार्जन किया हो और जिसने पूर्व मे अत्यधिक भावना की हो उसी को श्रद्धा की प्राप्ति होती है। भयकर कष्ट भी श्रद्धालु को भावना से विचलित नही कर पाते।

उपासकदशाग सूत्र मे कामदेव श्रावक का वर्णन आया है। उसकी श्रद्धा कितनी प्रगाढ थी ? देवता ने उसे धर्म से विचलित करने के लिए क्या नहीं किया ? नाना प्रकार की भयकर धमकियाँ दी और उन्हे कार्य रूप मे परिणत भी किया किन्तु कामदेव अपने सत्य या धर्म पथ से रचमात्र भी च्युत नहीं

हुआ। अगर उसके हृदय में दृढ़ श्रद्धा का वास न होता तो वह अपने मार्ग से विचलित हो जाता। श्रद्धा ने ही उसके चित्त में अजेय शक्ति और साहस का आविर्भाव किया।

पर आज कहाँ है ऐसी प्रगाढ़ श्रद्धा? आज तो एक-एक पाई के लिए लोग धर्म को बेच देने के लिए तैयार हो जाते हैं। पैसे-पैसे के लिए भगवान और धर्म की कसम खा जाते हैं। जरा सी बीमारी आई या बेटे-पोतों के लिए भैरों, भवानी, बालाजी, हनुमान जी के आगे मस्तक टेकते हैं। पर अन्त में उनके हाथ क्या आता है? कुछ भी नहीं, केवल पश्चात्ताप।

इस अन्धश्रद्धा का कारण यही है कि आज के मनुष्य में श्रद्धा का सर्वथा अभाव हो गया है। उसे पूर्व और पश्चात् जन्म, किये हुए कर्म के फल की प्राप्ति आदि पर विश्वास नहीं रहा है। आत्मा अजर-अमर है, वह यह भी नहीं मानता है। उसका इस सत्य की ओर ध्यान ही नहीं जाता। अज्ञानी पुरुष तो यही समझते हैं कि जो कुछ भी है, यही जीवन है और इसमें जितना सांसारिक सुख भोग लिया जाये, भोग लेना चाहिए। यह विचार करता हुआ मानव विषय-भोगों की ओर अधिकाधिक उन्मुख होता है, किन्तु उससे उसे तृप्ति नहीं मिल पाती, क्योंकि तृष्णा या लालसा एक ऐसी कभी न बुझने वाली आग है जो सदा जलती रहती है और जब तक यह जलती है, जीव को शांति प्राप्त नहीं होती। इसीलिए महापुरुष कहते हैं कि सच्चे सुख की प्राप्ति का उपाय भोग-तृष्णा का निरोध करना है। जो भव्य प्राणी इसको समझ लेते हैं वे तनिक-सा निमित्त मिलते ही भौतिक सुखों को ठोकर मार देते हैं। यह तभी, तब श्रद्धा सम्पन्नता प्राप्त होगी।

विनय की महिमा

अनुशासन का दूसरा अंग है—विनय। जैनशास्त्रों में विनय की महिमा अद्वितीय बताई गई है—

'धम्मस्स विणओ मूलं'

धर्म का मूल विनय है। साधना का प्रत्येक आचार-विचार विनय पर अवलम्बित होता है। जिस प्रकार मूल के कमजोर हो जाने या उखड़ जाने पर वृक्ष नहीं टिक सकता, उसी प्रकार विनय के दूषित या लोप हो जाने पर धर्म नहीं रहता। विनय ही धर्म का प्राण है और एकमात्र सहायक है। कहा भी है—

विणओ सासणमूल विणीओ सजओ भवे।
विणयाउ विप्प-मुक्कस्स कुओ धम्मो कुओ तवो ॥

—हरिभद्रीय आव निर्युक्ति १२-१६

अर्थात् विनय जिन शासन का मूल है। विनीत पुरुष ही सयमवान होता है। जो विनय से हीन है उसमे धर्म कहाँ और तप कहाँ ?

वस्तुत विनय के अभाव मे अगर व्यक्ति धर्म को पाना चाहे तो वह आकाशकुसुमवत् साबित होगा। यद्यपि अन्य समस्त सद्गुण जीवन के आभूषण है, किन्तु विनय के न होने पर वे प्रकाश मे नही आ सकते। विनय ही इन सब मे चमक लाता है। विनयवान व्यक्ति ही सर्वत्र सम्मान का पात्र बनता है और आपके चित्त को आकर्षित करने की क्षमता रखता है।

मुहम्मद साहब ने अपनी एक हदीस मे लिखा भी है—

'मन या हर मुरिफको या हर मुल खैरे कुल्ल ही।'

जिसने विनय को अपना लिया, उसने समस्त अन्य गुणों और भलाइयों को अपना लिया।

महात्मा आगस्टाइन ने कहा—'धर्म का पहला, दूसरा, तीसरा यहाँ तक कि सभी लक्षण एक मात्र विनय मे निहित हैं।'

ज्ञान प्राप्ति के लिए विनय की अनिवार्य आवश्यकता होती है। अनुशासन एव विनय को प्रगट करते हुए शास्त्रकारो ने कहा है—

विनय-समाधि चार प्रकार की है, यथा—१ गुरु द्वारा शिक्षित होकर उनके सुभाषित वचनो को सुनने की इच्छा करे, २ गुरु के वचनो को सम्यक्

बुद्धिमान पुरुष वही है जो विनय का महत्व समझकर विनम्र बनता विनम्र बनने मे उसकी कीर्ति बढती है और वह सद् अनुष्ठानो का उसी प्र.. आधारभूत होता है जैसे समस्त प्राणभूतो के लिये पृथ्वी।

बन्धुओ ! प्रत्येक आत्मोन्नति के इच्छुक व्यक्ति को शास्त्र का श्रवण और उसका पठन-पाठन करना चाहिये तथा उसके द्वारा प्राप्त होने वाली शिक्षाओ को जीवन मे उतारना चाहिये। शास्त्र की पहली शिक्षा अनुशासन है और अनुशासन का मूल श्रद्धा व विनय है। इनकी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे आवश्यकता है। इनके महत्व को न मानने वाला व्यक्ति कही भी आदर सम्मान नही पाता। अगर हम अनुशासन के महत्व को समझ लेते है और अनुशासन के मुख्य लक्षण श्रद्धा व नम्रता को अपना लेते है तो वह दिन दूर नही, जब कि हम अपने जीवनोद्देश्य की प्राप्ति कर लेंगे तथा अपने जीवन को सफल बना सकेंगे।

☆

[जा।न का महत्वपूर्ण निधि आचार, सदाचार
के विविध पहलुओ का विश्लेषण]

३ आचारः प्रथमो धर्मः

□

आपने पढा होगा और सुना होगा—'आचार प्रथमो धर्म.।' अर्थात् आचरण को पूर्ण विशुद्ध रखना सबसे बडा धर्म है।

मानव के जीवन मे आचार को प्रधानता दी गई है। जिसका आचरण पवित्र होता है, उस व्यक्ति का समाज मे सम्मान होता है और वह अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। यद्यपि इस जगत मे अनेक व्यक्ति रूपसम्पन्न होते हैं, अनेक धनसम्पन्न होते है और अनेक सत्तासम्पन्न पाये जाते है। किन्तु अगर वे आचार सम्पन्न नही होते तो उनकी अन्य सम्पन्नताएँ व्यर्थ मानी जाती है। उस तिजोरी के समान जो आकार मे बडी है, सुन्दर है और फौलाद के समान मजबूत है, किन्तु अन्दर से खाली है, एक पाई भी उसमे नही है। जिस प्रकार ऐसी तिजोरी का होना न होना बराबर है, ठीक इसी प्रकार अन्य अनेक विशेषतायें होते हुए भी आचरणहीन व्यक्ति का होना, न होना समान है। ऐसी तिजोरी के समान ही उस मनुष्य का कोई महत्त्व नही है।

आचार का अर्थ

आचार का अर्थ है—मर्यादित जीवन बिताना। अगर व्यक्ति अपने जीवन को मर्यादा मे नही रखता, अर्थात् अपनी इन्द्रियो पर एव मन पर सयम नही रखता तो उसका आचरण भी कदापि शुद्ध नही रह पाता।

तीन प्रकार के योग माने गये हैं। वे हैं—मनोयोग, वचनयोग एवं काययोग।

मनोयोग का काम है—चिन्तन करना या विचार करना। आप चाहे उत्तम कार्य करें या अधम कार्य करें, दोनों के लिए ही पहले मनोयोग द्वारा विचार किया जायेगा कि कार्य किस प्रकार और किस विधि से करना है। इन सब बातों का निश्चय करना ही मनोयोग का काम है।

मनोयोग के पश्चात् वचनयोग का कार्य प्रारम्भ होता है। मन के द्वारा किसी भी कार्य के करने का निश्चय हो जाने पर वे विचार जबान पर आते हैं। वाणी मन मे उमड़ने वाले विचारों की ही प्रतिध्वनि होती है। अगर मन में विचार न आये तो वे वाणी में भी नही उतर सकते। क्योंकि वाणी मे विचार करने की शक्ति नही है। केवल उच्चारण करने की सामर्थ्य होती है। इसलिए विचार न होने पर उच्चारण भी नही हो सकता है।

विचार, उच्चार और आचार, इन तीनों मे चर धातु का प्रयोग होता है, जिसका अर्थ है 'चलना'। मन मे विचार आया कि ऐसा करना है तो वचन के द्वारा शब्द उठते हैं कि हमको ऐसा करना है। विचार चाहे सामाजिक विषय से सम्बन्ध रखता हो अथवा राजनीति से। वे मन में उठते हैं और तब वचन से जाहिर होते हैं। कहने का अर्थ यह है कि किसी भी कार्य की नींव मन के विचारों से रखी जाती है, अतः मन में शुद्ध विचार आने चाहिए। जिन व्यक्तियों के पल्ले मे पुण्य होता है, उनके मन मे शुभ विचार आते हैं और इसके विपरीत जो पुण्यहीन हैं, उनके मन मे अशुभ विचारों का उदय होता है।

पहले मन मे विचार आते हैं, उसके पश्चात वे वाणी द्वारा उच्चरित होते हैं और उसके बाद आचरण में व्यवहृत होते हैं। जब तक विचार कार्य रूप में नहीं आते अर्थात् आचरण में नहीं लाये जाते तब तक उनका कोई महत्त्व नहीं माना जाता। इसीलिए शास्त्रकारों ने आचार का महत्त्व दिया है। यद्यपि क्रम में पहले सम्यग्दर्शन, फिर सम्यग्ज्ञान और उसके बाद सम्यक्चारित्र

का नम्बर है। सम्यग्दर्शन से ज्ञान पवित्र होता है और ज्ञान के साथ विवेक मिलकर आचरण को शुद्ध और सम्यक् बनाते हैं। तो पहले सम्यग्दर्शन यानी श्रद्धा होती है और उसके बाद सम्यक् ज्ञान। किन्तु इन दोनो के होने पर भी अगर चारित्र न रहा तो दोनो की कोई कीमत नही है।

आप कहेंगे ऐसा क्यो? वह इसलिए कि जिस तरह आप मकान बनवाते समय कम्पाउण्ड, दरवाजा खम्भे और दीवाले सभी कुछ बनवा लेते है, किन्तु छत नही बनाई गई तो वह मकान क्या आपको सर्दी, गर्मी और बरसात से बचा सकेगा? नही, छत के अभाव मे आपके मकान की दीवारें, खिडकियाँ और रास्ते किसी काम नही आयेगे।

इसी प्रकार मन से विचार कर लिया, वाणी से उसको प्रकट भी किया किन्तु जब तक उसे आचरण के द्वारा जीवन मे नही उतारा तो विचार और उच्चार से क्या लाभ हुआ? कुछ भी नही। आत्म-कल्याण के लिए आचरण आवश्यक ही नही, अनिवार्य भी है।

आचरण का लक्ष्य

एक गाथा आपके सामने रखता हूँ, जिसे बडी गम्भीरता से समझने की आवश्यकता है। गाथा इस प्रकार है—

> अगाण किं सारो, आयारो तस्स किं सारो।
> अणुहो गत्यो सारो, तस्स वि परुवणा सुद्धी॥

व्यावहारिक भाषा मे अग शरीर को कहते हैं। पारमार्थिक दृष्टि से यहाँ अग का अर्थ द्वादशाग रूप वाणी से है। तो यहाँ गाथा मे प्रश्नोत्तर के द्वारा अग और उसकी उत्तरवर्ती बातो का सार पूछा गया है। प्रश्नकर्ता ने पहला प्रश्न पूछा है कि 'अगाण किं सारो' अर्थात् द्वादशाग वाणी का क्या सार है? उत्तर दिया गया है—'आयारो' इनका सार आचरण है। अगो का सार आचरण करना बताया है।

फिर प्रश्न पूछा गया है—उसका भी क्या सार है ? तो उसका उत्तर दिया गया है—भगवान के फरमाये हुए जिन आदेशो को पढा, श्रवण किया, स शास्त्रो से जाना, उस पर चिन्तन करते हुए उसके पीछे-पीछे चलना यानी अनुसरण करना। फिर प्रश्न पूछा गया है—उसका भी सार क्या है ? तो उत्तर मिला—प्ररूपणा अर्थात् परोपदेश देना। क्योंकि हम भगवान की आज्ञानुसार चले तो अपने लिए ही कुछ किया किन्तु उससे जनता को क्या लाभ मिला ? अत भगवान की आज्ञाओ को औरो के हृदय मे बिठाना तथा उन्हे सरल ढग मे समझने के लिए उपदेश देना। अगर एक व्यक्ति स्वय सन्मार्ग पर चलता है, तो वह अच्छा ही है पर कुमार्ग पर जाने वाले अन्य व्यक्ति को भी सन्मार्ग पर ले आता है तो वह बडे पुण्य का कार्य है।

आप देखते है कि सन्त मुनिराज सदा एक गाव से दूसरे गाव मे जाते है। वह क्यो ? क्या उन्हे लोगो से पैसो की वसूली करनी है, अथवा सेठ साहूकारो से कोई जागीर लेनी है ? नही, वे केवल इसलिए विचरण करते है कि जो व्यक्ति धर्म क्या है यह नही जानते और शास्त्र या उसकी वाणी क्या होती है यह नही समझते तो उन्हे इन बातो की जानकारी दी जा सके। ऐसा किये बिना धर्म का प्रचार और प्रसार नही हो सकता। तो आचरण का सार प्ररूपणा अर्थात् अज्ञानियो को सदुपदेश देकर सन्मार्ग पर लाने मे है।

इस गाथा के बाद आगे की गाथा मे और कहा गया है—

सारो परूवणाए चरण तस्स वि य होइ निव्वाण।
निव्वाणस्स उ सारो अव्वाबाह जिणा विति॥

गाथा मे पुन प्रश्न किया गया है कि—प्ररूपणा का सार क्या है ? उत्तर दिया गया है—चरण अर्थात् आचरण करना। उत्तर यथार्थ है कि हम जिस बात की प्ररूपणा करे यानी जिस कार्य को करने का औरो को उपदेश दे, पहले स्वय भी उसका पालन करे। क्योंकि—

'परोपदेशे पाण्डित्य सर्वेषाम् सुकर नृणाम्।'

दूसरों को उपदेश देना और उनके समक्ष अपने पाडित्य का प्रदर्शन करना सरल है, पर उसके अनुसार हमारा स्वय का आचरण भी पहले होना चाहिए, तभी लोगो पर हमारी बात का प्रभाव पड सकता है।

सन्त मुनिराजो की शिक्षाओ का प्रभाव लोगो पर जल्दी क्यो पडता है? इसलिए कि वे जिस कार्य को जनता से कराना चाहते है, पहले स्वय करते है। अगर वे ऐसा न करे तो लोग उनके आदेशो को नही मान सकते।

आप स्वय भी यह महसूस करते होंगे कि अगर हम रात्रि को भोजन करे और आपको रात्रि-भोजन करने का त्याग करायें तो आप मानेंगे क्या? इसी प्रकार अगर हम बीडी, सिगरेट या मदिरा का सेवन करते रहे और आपसे उसे छोडने को कहे तो आप उन्हे छोडेंगे क्या? नही। तो बन्धुओ! प्ररूपणा करने के लिए पहले स्वय क्रिया करनी पडेगी। इसीलिए शास्त्रकारो ने कहा है—प्ररूपणा का सार स्वय आचरण करना है।

धर्म के तीन अग है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। जीवन मे दर्शन अर्थात् श्रद्धा का होना आवश्यक है, ज्ञान का होना भी अनिवार्य है, किन्तु उन दोनो को क्रियात्मक रूप देने के लिए चारित्र या आचरण का होना तो श्रद्धा व ज्ञान की अपेक्षा भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। केवल श्रद्धा और ज्ञान से क्या हो सकता है, जबकि उनका कोई उपयोग ही न किया जाये।

सत तुकाराम महाराज ने कहा है—

> 'बोलालाच भात बोलाचीच कढी,
> खाऊँनिया तृप्त कोण झाला?'

तात्पर्य यह है कि आपने लोगो को भोजन के लिए आमत्रित किया। समय पर पगत खाने के लिए बैठ भी गई। किन्तु आपके पास खाद्य वस्तु कोई भी तैयार नही है और आप उन व्यक्तियो के सामने घूम-घूम कर कहते है—'लीजिये साहब! चावल लीजिए, रोटी लीजिए।'

फिर प्रश्न पूछा गया है—उसका भी क्या सार है ? तो उसका उत्तर दिया गया है—भगवान के फरमाये हुए जिन आदेशों को पढ़ा, श्रवण किया, धर्म शास्त्रों मे जाना, उस पर चिन्तन करते हुए उसके पीछे-पीछे चलना यानी अनुसरण करना । फिर प्रश्न पूछा गया है—उसका भी सार क्या है ? तो उत्तर मिला—प्ररूपणा अर्थात् परोपदेश देना । क्योंकि हम भगवान की आज्ञानुसार चले तो अपने लिए ही कुछ किया किन्तु उससे जनता को क्या लाभ मिला ? अतः भगवान की आज्ञाओं को औरों के हृदय मे बिठाना तथा उन्हें सरल ढंग से समझने के लिए उपदेश देना । अगर एक व्यक्ति स्वयं सन्मार्ग पर चलता है, तो वह अच्छा ही है पर कुमार्ग पर जाने वाले अन्य व्यक्ति को भी सन्मार्ग पर ले आता है तो वह बड़े पुण्य का कार्य है ।

आप देखते है कि सन्त मुनिराज सदा एक गाव से दूसरे गाव मे जाते है वह क्यों ? क्या उन्हें लोगो से पैसों की वसूली करनी है, अथवा सेठ साहूकारों से कोई जागीर लेनी है ? नहीं, वे केवल इसलिए विचरण करते है कि जो व्यक्ति धर्म क्या है यह नहीं जानते और शास्त्र या उसकी वाणी क्या होती है यह नहीं समझते तो उन्हें इन बातो की जानकारी दी जा सके । ऐसा किए बिना धर्म का प्रचार और प्रसार नहीं हो सकता । तो आचरण का सार प्ररूपणा अर्थात् अज्ञानियों को सदुपदेश देकर सन्मार्ग पर लाने मे है ।

इस गाथा के बाद आगे की गाथा मे और कहा गया है—

> सारो परूवणाए चरणं तस्स वि य होइ निव्वाणं ।
> निव्वाणस्स उ सारो अव्वाबाहं जिणा बिंति ॥

गाथा मे पुनः प्रश्न किया गया है कि—प्ररूपणा का सार क्या है ? उत्तर दिया गया है—चरण अर्थात् आचरण करना । उत्तर यथार्थ है कि हम जिस बात की प्ररूपणा करें यानी जिस कार्य को करने का औरों को उपदेश दें, पहले स्वयं भी उसका पालन करें । क्योंकि—

> 'परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषाम् सुकरं नृणाम् ।'

दूसरों को उपदेश देना और उनके समक्ष अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करना सरल है, पर उसके अनुसार हमारा स्वयं का आचरण भी पहले होना चाहिए, तभी लोगों पर हमारी बात का प्रभाव पड़ सकता है।

सन्त मुनिराजों की शिक्षाओं का प्रभाव लोगों पर जल्दी क्यों पड़ता है? इसलिए कि वे जिस कार्य को जनता से कराना चाहते हैं, पहले स्वयं करते हैं। अगर वे ऐसा न करें तो लोग उनके आदेशों को नहीं मान सकते।

आप स्वयं भी यह महसूस करते होंगे कि अगर हम रात्रि को भोजन करें और आपको रात्रि-भोजन करने का त्याग करायें तो आप मानेंगे क्या? इसी प्रकार अगर हम बीड़ी, सिगरेट या मदिरा का सेवन करते रहें और आपसे उसे छोड़ने को कहें तो आप उन्हें छोड़ेंगे क्या? नहीं। तो बन्धुओ! प्ररूपणा करने के लिए पहले स्वयं क्रिया करनी पड़ेगी। इसीलिए शास्त्रकारों ने कहा है—प्ररूपणा का सार स्वयं आचरण करना है।

धर्म के तीन अंग हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। जीवन में दर्शन अर्थात् श्रद्धा का होना आवश्यक है, ज्ञान का होना भी अनिवार्य है, किन्तु इन दोनों को क्रियात्मक रूप देने के लिए चारित्र या आचरण का होना तो श्रद्धा व ज्ञान की अपेक्षा भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। केवल श्रद्धा और ज्ञान से क्या हो सकता है, जबकि उनका कोई उपयोग ही न किया जाये।

सन्त तुकाराम महाराज ने कहा है—

> 'बोलाचाच भात बोलाचीच कढ़ी,
> खाऊनियाँ तृप्त कोण झाला?'

आशय यह है कि आपने लोगों को भोजन के लिए आमंत्रित किया। समय पर सबको खाने के लिए बैठा भी दिया। किन्तु आपके पास खाने की वस्तु कोई भी तैयार नहीं है और आप उन व्यक्तियों के सामने घूम-घूम कर कहते हैं—'कीजिए साहब! भोजन कीजिए, खूब कीजिए।'

[कुराह से बचकर संसार में शक्ति एवं धन का नियोजन करने का प्रेरणा देने वाला प्रवचन]

४ मानव जीवन का सदुपयोग

अभी आपने एक भजन सुना—जिसमें कहा गया है—

जय बोलो महावीर स्वामी की, घट-घट के अन्तर्यामी की ।

भक्त लोग घट-घट के अन्तर्यामी की जय बोलते हैं, लेकिन वह जय केवल उनके अन्तर्यामी होने से ही नहीं बोली जाती। इसका कारण और भी है, जो आगे बताया गया है—

जो पाप मिटाने आया था ।

बस, यही बात उनकी जय बोलने का कारण है। संसार में महानतम पुरुष वही है जो पापों का नाश करने का प्रयत्न करता है। भगवान महावीर स्वामी ने भी अपने पापों का नाश तो किया ही, साथ में संसार के अन्य प्राणियों को भी अपने पापों को नष्ट करने की प्रेरणा दी।

प्रथम पाप

पाप, वैसे अठारह प्रकार के हैं, पर उनमें प्रथम और सर्व-शिरोमणि है हिंसा। हिंसा घोर पाप है। हिंसक व्यक्ति जन्म-जन्मान्तरों तक इसके महा-दुःखदायी परिणामों को भुगतता है—हिंसैव दुर्गतेर्द्वारम् अर्थात् हिंसा ही दुर्गति का द्वार है।

अहिंसा धर्म का अविभाज्य अंग है और प्राणिमात्र का नैसर्गिक धर्म है, [illegible] मानव [illegible] प्रकार [illegible] नाटक-सा भी [illegible] बर्दाश्त नहीं कर

तीन बातें

उर्दू भाषा में तीन बातें कही गई हैं—१ भलाई कर, २ बदी से बच और ३ परहेजगारी कर। ये तीनों बातें मानव के जीवन को उन्नति की ओर ले जाती है। प्रेरणा देती है—सदा भलाई करो। इस संसार में जन्म लेकर भी अगर तुम्हें उत्तम मनुष्यगति प्राप्त हुई है तो कुछ पुण्य-सञ्चय कर लो। यहाँ से जाना तो प्रत्येक को पड़ेगा। चाहे कितने भी वर्ष यहाँ रह ले, एक दिन विदाई का अवश्य आयेगा। सौ वर्ष की उम्र पाने वाला और हजार तथा लाख वर्ष की उम्र पाने वाला जीव भी अपना आयुष्य पूर्ण करके प्राप्त शरीर को छोड़ेगा। इसीलिए कहा जाता है—एक दिन तुमको यहाँ से अवश्य जाना है अत स्वय भलाई के मार्ग पर चलो तथा औरों को भी उस मार्ग पर चलने की प्रेरणा दो।

दूसरी बात है—बदी से बाज आ। आवश्यकता तो यही है कि मनुष्य नेकी करे अर्थात् दूसरों का भला करे, अगर वह यह न कर सके तो कम-से-कम बदी से तो बचे। किसी भजन की एक पंक्ति है—

'तू भला किसी का कर न सके तो बुरा किसी का मत करना।'

हम तो आज देखते हैं कि न्याय, नेकी और सचाई का मानो लोप ही हो गया है। ऊपर से लेकर नीचे तक के शासनाधिकारी अपना उल्लू सीधा करने की फिराक में रहते हैं।

बदी से बचने के लिए मनुष्य को झूठ, फरेब, छल, कपट, क्रूरता और धोखेबाजी आदि सभी दुर्गुणों से बचना चाहिए। ये सभी दोष बदी के मूल में रहते हैं। इन्हीं के आधार पर बदी का महल खड़ा होता है।

तीसरी बात—परहेजगारी रखो। आपने भलाई कर दी और बदी से भी बच गये, पर परहेज नहीं रखी तो सब कुछ गोबर हो जायेगा। कैसे होगा? घर पर बैठी हमारी माता बहनों से पूछो। वे अनेक वस्तुओं का अचार डालती है और जब खाने को निकालती है तो क्या गन्दे में सने हाथों से या जूठन से

उद्देश्य की प्राप्ति करता है, नेक व्यक्ति केवल अपने त्याग और परोपकार के बल पर बिना कामना किये भी उस उद्देश्य को पा लेता है।

जो प्राणी इन दोनों बातों के महत्त्व को समझ लेते हैं, वे अपने इस दुर्लभ जन्म और देह का सच्चा सदुपयोग करते हुए एक दिन इस संसार कारागृह से अवश्यमेव मुक्त हो जाते हैं।

दिन टिकेगा ? पास से निकलने वालो की जान को भी और जोखिम ! तो जीवन में यदि विचार नही है, विवेक तथा भावना नही है तो वह जीवन, मानव का जीवन नही कहला सकता ! वह जीवन निरा पशुजीवन है।

आप सोच रहे होंगे कि जिस विचार का जीवन मे इतना महत्वपूर्ण स्थान है, वह विचार क्या है ? उसका अर्थ क्या है ? वैसे तो मनुष्य विचारशील प्राणी है, विचार करना उसका स्वभाव है। शास्त्र मे बताया है, प्राणी नरक मे अत्यन्त दुखी रहता है, स्वर्ग मे अत्यन्त सुखी। नरक की यत्रणाओ मे, वेदनाओ मे उसे कुछ विचार सूझता नही और स्वर्ग के सुखो मे उसे विचार करने की फुरसत नही। इस प्रकार स्वर्ग और नरक की योनियाँ तो विचारशीलता की दृष्टि से शून्य है। तिर्यंचगति मे प्राणी विवेकहीन रहता है। **तिरिया विवेगविकला**—तिर्यंच विवेक-विकल—रहित होते है। उनमे बुद्धि, भावना, विचार और विवेक जैसी योग्य शक्ति नही होती। फिर मनुष्ययोनि ही एक ऐसी योनि है, मानव जीवन ही ऐसा जीवन है जिसमे विचार करने की क्षमता है, शक्ति है, विवेक व बुद्धि की स्फुरणा है, योग्यता है। इसलिए हम कह सकते है कि विचार मनुष्य की विशिष्ट सपत्ति है।

विचार का अर्थ सिर्फ सोचना भर नही है। पहले सोच, फिर चिन्तन यानी सोचने के आगे की भूमिका है विचार। भारत के चिन्तनशील मनीषि ने कहा है—

> कोऽहं कथमय दोष ससाराख्य उपागत।
> न्यायेनेति परामर्शो विचार इति कथ्यते।[1]

मै कौन हू ? मेरा स्वरूप क्या है ? मुझ मे ये दोष क्यो आये ? ससार वासनाएँ मुझ मे क्यो आई ? इन सब बातो का युक्तिपूर्वक चिन्तन क

---

1 योगवासिष्ठ २।१४।५०

विचार है। इस प्रकार के विचार से सत्य-असत्य का, हित-अहित का परिज्ञान होता है और उससे आत्मा को विश्रान्ति-शान्ति मिलती है—

विचाराद् ज्ञायते तत्त्व तत्त्वाद् विश्रान्तिरात्मनि ।[२]

विचार और भावना

विचार जब मन में बार-बार स्फुरित होने लगता है, नदी में जैसे लहर-पर-लहर उठने लगती हैं तो वे लहरें एक वेग का रूप धारण कर लेती हैं, उसी प्रकार पुनः-पुनः उठता हुआ विचार जब मन को अपने संस्कारों से प्रभावित करता है तो वह भावना का रूप धारण कर लेता है। विचार पूर्व रूप है, भावना उत्तर रूप। वैसे सुनने में, बोलचाल में विचार, भावना एवं ध्यान समान अर्थ वाले शब्द प्रतीत होते हैं किन्तु तीनों एक दूसरे के आगे-आगे बढ़ने वाले चिन्तनात्मक संस्कार बनते जाते हैं। अतः तीनों के अर्थ में अन्तर है।

विचार के बाद भावना, भावना के बाद ध्यान ! यह इसका क्रम है।

जीवन-निर्माण में विचार का जो महत्त्व है वह चिन्तन एवं भावना के रूप में ही है। बाइबिल में कहा है—'मनुष्य वैसा ही बन जाता है, जैसे उसके विचार होते हैं।' विचार ही आचार का निर्माण करते हैं मनुष्य को बनाते हैं—इन सब उक्तियों का सार विचार को भावना के रूप में प्रकट करने में ही है। मैंने एक बार कहा था—

जैसा सांचा कीजिए, वैसा हो आकार।
मानव वैसा ही बने, जैसा रहे विचार॥

विचार का महत्त्व सिर्फ विचार के रूप में नहीं, किन्तु सद्विचार, सुविचार या विचार-मंथन के रूप में है और विचार-मंथन ही भावना का रूप धारण करते

---

२ वही २१२।१२

पुण्योदय का सुफल—वाणी

अनन्त पुण्यों का सचय करने पर हमे जो व्यक्त वाणी बोलने की क्षमता मिली है, यह निश्चय ही अत्यन्त मूल्यवान है। ज्ञानियों की दृष्टि से देखा जाए तो हमे इसकी प्राप्ति के लिये बडी भारी कीमत चुकानी पडी है। इसलिये इस महा मूल्यवान शक्ति को हमे व्यर्थ ही नही गवाना चाहिये। ससार का प्रत्येक बुद्धिमान और विवेकशील व्यक्ति अपनी किसी भी बहुमूल्य वस्तु को व्यर्थ मे नही खोता, वह उससे पूरा-पूरा लाभ उठाता है, बल्कि जितना मूल्य देकर उसे प्राप्त करता है, उससे अधिक ही वसूल करना चाहता है। इस दृष्टि से वही व्यक्ति बुद्धिमान माना जायेगा जो वाणी की प्राप्ति मे खर्च किये हुए पुण्यो के पुंजो की अपेक्षा भी उसके द्वारा और अधिक नवीन पुण्यो का उपार्जन कर लेगा।

जैनागमो मे पुण्य के नौ प्रकार बताये है, जिनमे से एक वचनपुण्य भी है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अगर हम अपनी वाणी का उपयोग भली-भांति विचारकर करे, उसके द्वारा किसी को हानि और कष्ट न पहुँचाये, किसी के हृदय को अपने वचनो से व्यथित न करे अपितु जहाँ तक सभव हो सके, उसके द्वारा औरो को सुख और शान्ति पहुँचाने का प्रयत्न करे तो हम उसके द्वारा पुन महान् पुण्यो का सचय कर सकते है।

आचार्य चाणक्य ने वाणी का महत्व बतलाते हुए कहा है—

> ससार कटुवृक्षस्य द्वे फले अमृतोपमे।
> सुभाषित च सुस्वादु सगति सुजने जने ॥

इस विराट् विश्वरूपी कटुवृक्ष मे अमृत के समान दो ही फल है—एक है मधुर और प्रिय वचन तथा दूसरा सज्जन पुरुषो की सगति।

वाणी की शक्ति

आज हम जिधर भी दृष्टिपात करते है, वैर, विरोध और सघर्ष दिखाई देता है। राष्ट्र, समाज, परिवार, बाजार और स्कूल या कालेजो मे, सर्व

हल नही निकालते। दूसरे शब्दो मे अगर यह कहा जाये तो भी अतिशयोक्ति नही है कि ऐसे व्यक्ति न स्वय कुछ लाभदायक काम करते है और न दूसरो को ही करने देते है। इसलिये समाज के प्रत्येक सदस्य को अपनी जिम्मेदारी, निष्पक्षता तथा निष्कपटता के द्वारा अपनी वाणी पर सयम रखते हुए व्यर्थ के बकवाद से बचना चाहिये और ऐसा कार्य करना चाहिये जिसमे कुछ लाभ हो, अन्यथा व्यर्थ के वादविवादो और बहसो से कोई हल निकलना सभव नही होता, उलटे कर्मठ और अनुभवी व्यक्तियो के कार्यो मे बाधा आती है, उनका मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

आध्यात्मिक क्षेत्र की दृष्टि से देखा जाय तो भी भाषा के असयमी व्यक्ति अपनी आत्मोन्नति मे स्वय ही बाधक बनते है। शास्त्रकारो ने भाषा के सम्यक् प्रयोग पर बहुत बल दिया है। पांच महाव्रतो मे सत्यव्रत का विधान भी इसीलिये किया गया है कि मनुष्य मायाचार का त्याग करके अपने मन मे भाषा की सचाई और मृदुता का सदैव ख्याल रखे और कभी भी कटु, कठोर और असत्य भाषा का प्रयोग न करे।

जिस व्यक्ति के मन और वचन मे मधुरता होती है, वह अपने शरीर से भी किसी को कष्ट नही पहुँचाता। उसके हाथ-पैर केवल अन्य प्राणियो की रक्षा के लिये, उन्हे आश्रय देने के लिये तथा उनके कष्टो का निवारण करने के लिये ही उठते है, किसी को हानि पहुँचाने के लिये नही।

कहने का आशय यही है कि जो व्यक्ति वाणी के महत्व को भली-भांति समझ लेता है, वह अपने हृदय को उसके अनुरूप बनाये बिना नही रह सकता। वह सदा कोमल और निश्छल भाषा का ही प्रयोग करता है तथा निरर्थक तर्क-वितर्क और विसंवाद से परे रहता है। उसकी जिह्वा से आग को मात देने वाले शब्द कभी नही निकलते और न ही वह वैर-विरोध और आपसी कटुता का वातावरण बनाने वाले प्रसंगो मे पड़ता है। उसे पूर्ण विश्वास होता है—

लक्ष्मीर्वसति जिह्वाग्रे, जिह्वाग्रे मित्र बांधव ।
जिह्वाग्रे बंधनं प्राप्त जिह्वाग्रे मरणं ध्रुवम् ॥

जीभ का अग्रभाग, जिसके द्वारा शब्दों का उच्चारण होता है, बहुत ही महत्वपूर्ण है। क्योंकि इसके द्वारा उच्चारित सत्य और प्रिय शब्दों से ही लक्ष्मी का आगमन हो जाता है तथा मित्र और हितैषियों से मधुर सम्बन्ध बना रहता है और इसके दुरुपयोग से कभी-कभी बंधन में बंधना पड़ता है तथा मृत्यु का शिकार भी होना पड़ता है।

इसलिये बन्धुओ, अगर हमें अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाना है तथा इस संसार में यश और प्रतिष्ठा की प्राप्ति करते हुए परलोक में भी सुगति पाना है तो हमें अपनी वाक्शक्ति के मूल्य को समझना पड़ेगा तथा प्रयत्न करना पड़ेगा कि हमारी जबान से निकला हुआ एक भी शब्द निरर्थक न जाये तथा एक भी शब्द अन्य प्राणियों को पीड़ा-आघात पहुँचाने का कारण न बने। ऐसा करने पर ही हमारी आत्मा का कल्याण होगा।

[ससार में सहयोग का महत्व, अकेला कुछ नहीं कर सकता। सहयोग लेना और देना आवश्यक है, गुणो का सम्मान करना, शक्ति का सदुपयोग करना आदि जीवनस्पर्शी विवेचन]

७ सहयोग सर्वत्र आवश्यक

☐

ससार के प्रकार

ठाणाग सूत्र के चौथे ठाणे मे चार प्रकार के ससार बताये गए है—

चउव्विहे संसारे पण्णत्ते त जहा—णेरइयससारे,
तिरिक्ख जोणियससारे, मणुयससारे, देवससारे।

अर्थात् ससार चार प्रकार के है—नरक ससार, तिर्यंच ससार, मनुष्य ससार और देव ससार।

नरकगति मे जीव को कितने कष्ट उठाने पडते है, उसका वर्णन करना भी सभव नहीं है। रातदिन वे दुःखो के महासागर मे डूबते-उतराते रहते है। पल श्वास लेने के जितने समय मे भी उन्हे शान्ति नसीब नही होती।

इसी प्रकार तिर्यंच गति मे भी जीव नाना प्रकार के कष्ट भोगता है तथा परतन्त्रता मे जीवन बिताता है।

कभी-कभी पूर्वकृत पुण्यो के बल पर जीव स्वर्ग मे जा पहुँचता है। पर वहा भी अपनी करनी के अनुसार देव पद प्राप्त करता है। कोई आभियोगिक वाहन देव बनता है और कोई राज्य प्रदान करने वाला इन्द्र। वाहन देवो को भी अहं मे रहकर दूसरो की आज्ञा माननी पडती है तथा उनके अनु-

शासन में रहना होता है। इसके अलावा जब तक उनके पुण्य कर्मों का उदय होता है तभी तक वे स्वर्गीय सुखों का उपभोग करते हैं और ज्योंही वह पुण्य-भोग निःशेष हुआ, पुनः जन्म-मरण के चक्कर में से पड़ते हैं।

नरक में जीव पाप कर्मों के उदय के कारण असहनीय दुःख भोगता है और स्वर्ग में संचित पुण्यों के बल पर सुखों का अनुभव करता है। किन्तु वे सुख अनित्य होते हैं तथा देवपर्याय की समाप्ति के साथ ही समाप्त हो जाते हैं। इन सुखों में जीव इतना तल्लीन हो जाता है कि स्थायी और शाश्वत सुख के बारे में सोच ही नहीं पाता है, न ही उसके लिए कुछ प्रयत्न ही कर सकता है। यह कार्य करता है मनुष्य पर्याय में आकर।

मनुष्यसंसार नरक और देव संसार दोनों से भिन्न है। यहां अंधेरा भी है और उजेला भी है। दुःख भी है और सुख भी, पाप भी यहां है और पुण्य भी यहीं। यह वह चौराहा है जहां से जीव अपनी करनी के अनुसार नरकगति तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति किसी को भी प्राप्त कर सकता है। कुगति में रहकर नरक और तिर्यंच में होने वाले कष्टों को भोगता है तथा सत्संग की प्राप्ति होने पर अपने जीवन को पवित्र बनाता हुआ मोक्ष की भी प्राप्ति कर लेता है।

सहयोग की आवश्यकता

मानवजीवन में सहयोग का बड़ा भारी महत्व है। बालक जन्म लेने के साथ ही सहयोग की अपेक्षा रखता है। सर्वप्रथम वह अपने माता-पिता के सहयोग पर निर्भर होता है और उसके पश्चात् गुरुजनों पर। इसी प्रकार गुरुजनों की बुद्धि एवं गुणों की प्राप्ति सह सज्जनों की सुसंगति में सम्भव है। इसी का नाम सहयोग है। सहयोग के अभाव में मानवजीवन कभी भी सम्यक् प्रकार से अपनी जीवन यात्रा आगे नहीं बढ़ा सकता।

मनुष्य तो क्या, देवता भी एक दूसरे के सहयोग के बिना अपने कार्य में सफल नहीं हो सकते। सहयोग के अभाव में देवसमाज भी निष्क्रिय होता है। हिरणगमेषी देवों को भी इन्द्र की आज्ञा माननी पड़ती है और आभियोगिक देवता भी अपने से निम्न कोटि के देवताओं को हुक्म देते हैं, जो उन्हें मानना पड़ता है। कहने के अभिप्राय यही है कि प्रत्येक का कार्य दूसरे के सहयोग से चलता है। इसीलिये संस्कृत में एक वाक्य में कहा गया है—

जीवो जीवस्य जीवनम्।

अर्थात् एक जीव का जीवन दूसरे जीव पर आश्रित है। किन्तु इस बात का अनेक लोग बड़ा भयंकर अर्थ लगाते हैं। वे कहते हैं—जीव जीव का जीवन है, इससे तात्पर्य है दूसरे जीव का भक्षण करके जीवन को टिकाया जाये।

किन्तु उनकी युक्ति महा अज्ञान और भ्रम से परिपूर्ण है। वे यह नहीं सोचते कि मनुष्य बुद्धि और विवेक से विभूषित प्राणी है तथा पशु-पक्षी एवं कीट-पतंग आदि अन्य समस्त जीव-जन्तु बुद्धिहीन हैं। अतएव उसे बुद्धिहीन जीवों का अनुकरण न करके अपने निर्मल विवेक और बुद्धि का ही अनुसरण करना चाहिये। अगर मनुष्य अपने से निर्बल प्रत्येक प्राणी और मनुष्य की हत्या करने लग जाये तो क्या सृष्टि का क्रम न बिगड़ जायेगा? मनुष्य को मनुष्य बनकर रहना है या पशु बन कर? स्पष्ट है कि मनुष्य को मनुष्य बनकर रहना है, न कि पशु बनकर।

जीव, जीव का जीवन है, इसका सही अर्थ यह है कि जीव जीव का सहायक है, सहारा है, उसका नाश नहीं करना है। संसार का कोई भी धर्म इस बात का समर्थन नहीं करता कि मानव किसी भी अन्य प्राणी का घात करे और अपना जीवन रखने के लिये उसे खा जाये। एक फारसी कवि ने कहा है—

हजार गंजे कनाअत हजार गंजे करम।
हजार इताअत शबहा, हजार बेदारी॥

हज़ार सिजदाय हर सिजदा हर हज़ार नमाज़ ।
कबूल नेस्त गर ख़ातरे बयाज़ारी ॥

अर्थात् चाहे मनुष्य अत्यन्त धैर्यवान हो, प्रतिदिन हजार खजाने दान करता हो, हजारों रात्रियाँ ईशभजन में व्यतीत करता हो, हजारों प्रणाम और उनके साथ हजारों नमाज़ पढ़ता हो, फिर भी उसकी ये सब शुभ क्रियायें व्यर्थ चली जायेंगी अगर वह किसी भी अन्य प्राणी को तनिक भी कष्ट देता है ।

आप समझ गये होंगे कि किसी भी अन्य प्राणी को तनिक-सा कष्ट देना भी जब गर्हित है तो फिर उसका वध करना और उससे अपने जीवन को टिकाने का प्रयत्न करना तो कितना भयंकर फल प्रदान करने वाला होगा । इसलिये हमें शास्त्र की वाणी और सत महापुरुषों के मार्गदर्शन पर विश्वास करते हुए अपने जीवन को निर्मल बनाने का प्रयत्न करना चाहिये । हम जो सोचते हैं और करते हैं, वही सत्य है ऐसा कदाग्रह करना विनाश को निमन्त्रण देना है ।

इसलिये मोक्ष के अभिलाषी व्यक्ति को सर्वप्रथम कदाग्रह छोड़कर जहाँ से भी गुण मिलें, जहाँ से सच्चाई हासिल हो, उसे पाने का प्रयत्न करना चाहिये तथा औरों से सहयोग लेते हुए अपना सहयोग औरों को प्रदान करना चाहिये । सहयोग के अभाव में कहीं भी काम नहीं चलता । बिना किसी के सहयोग के यह प्राणी जीवन यात्रा को एक कदम भी नहीं बढ़ा सकता ।

अहंकार व्यर्थ है

कोई भी व्यक्ति अगर इस बात का गर्व करे कि मुझे किसी भी दूसरे की सहायता अपेक्षित नहीं है मैं स्वयं ही अपनी जीवनयात्रा को सुचारुरूप से चला सकता हूँ तो उसका यह अहंकार व्यर्थ है । वह अकेला अपना एक भी कार्य सम्यक् रूप से नहीं कर सकता । किसी कवि ने अन्योक्ति अलंकार से

द्वारा मनुष्य के अहंकार की व्यर्थता बतलाते हुए कागज, स्याही, कलम व
और हाथ का उदाहरण देकर कहा है—

कागज घमंड से आरोना आलम से मुहब्बत करता हूँ।
सुलतान भी मेरी चाह करे, दिल में अभिमान भी रखता हूँ॥

कागज के इस अभिमान को देख स्याही उबल पड़ी—

कहे रोशनाई जोश मे आकर नाहक तू पत्र उछलता है।
जब तक नहीं मेरे अंक पड़े तब तक कुछ काम न चलता है॥

कागज और स्याही के इस वाद-विवाद में लेखनी की तंद्रा टूट गई
उसने अपना महत्व बताते हुए कहा—

दोनों की बातें सुनकर के लेखनी एकदम बोल उठी।
मेरा मान सत्कार करे दोनों की पोल मैं खोल उठी॥

लेखनी की इस अपनी बड़ाई को देखकर चाकू कैसे पीछे रह सका
और बोला—

लेखनी से चाकू यों बोला जब तक न चलेगी धार मेरी।
तब तक न तुम्हारी कीमत है, रही बात श्रेष्ठ हरबार मेरी॥

इस प्रकार कागज, स्याही आदि सारों को आपस में झगड़ते देख
परेशान हो उठा और अपनी समझदारी से इस विवाद को शांत करने
उसने कहा—

सबकी सुनकर पंजा बोला मेरे बिन काम न चलने का।
सब फकत एक ही व्यक्ति से हरगिज कुछ काम न बनने का॥

हाथ की इस बात को सुनकर आप समझ गये होंगे कि संसार में
भी वस्तु से काम सिद्ध नहीं होता। अनेक वस्तुओं के मेल और सहयो
प्रकार कार्य बनता है। महत्त्व सभी वस्तुओं का होता है, किन्तु कोई
महत्त्व नहीं होता है क्योंकि सब चीजों का समान सहयोग और परिश्रम

हुआ वैर, विरोध, कटुता और वैमनस्य के कारण नाना प्रकार के कर्मों का बंध
कर लेता है, जो उसे नीचाई की ओर ले जाते हैं तथा दूसरा व्यक्ति सभी से
सहयोग देता हुआ और उनसे सहयोग लेता हुआ अपनी आत्मा को कषाय आदि
से परे रखता है तथा अपनी निर्मल भावनाओं के कारण पुण्यसंचय कर लेता
है जो उसकी आत्मा को ऊंचा उठाते हैं।

इसलिये बंधुओ ! हमें मानव के रूप में सर्वप्रथम मानवता को अपनाना है
जिसका चरण है मित्रता और सहयोग की भावना रखना तथा सबसे हि
मिल-कर चलना। जो व्यक्ति मानवता के इस प्रथम पाठ को सम्यक् रूप
पढ और समझ लेता है, वह अपने हृदय को सद्गुणों का भंडार बनाने
समर्थ हो जाता है।

गुणार्जन सरल न

गुणों को ग्रहण करना आसान कार्य नहीं है, उसके लिये बड़े ल
और परिश्रम की आवश्यकता होती है। किसान जिस प्रकार अन्न
फसल को प्राप्त करने के लिये सर्वप्रथम भूमि की शुद्धि करता है और उ
बीज बो देने पर भी रात-दिन सजग होकर उसकी सुरक्षा बड़ी सावध
और परिश्रम से करने के बाद ही अन्न को प्राप्त करता है। उसी प्र
मनुष्य को गुण ग्रहण करने के लिये कठिन साधना करनी पड़ती है।
प्रथम हृदय की भूमि को कषायादि के कचरे से रहित बनाकर रखना
बाद में गुण रूपी फसल के उपजाने योग्य बनाना पड़ता है और सद्गुणों
अंकुरों की अत्यन्त सावधानी से रक्षा करनी पड़ती है। अगर ऐसा न
जाये तो एक बार सद्गुणों को अपना लेने पर भी कुसंगति से पुन उन
हो जाने की संभावना रहती है। कहा भी है—

> रहिमन उजली प्रकृति को, नहीं नीच का संग।
> करिया बासन कर गहे, कालिमा लागत अंग॥

इसलिये मनुष्य को गुण ग्रहण करने के पश्चात भी उन्हें सुरक्षि

[सहयोग की आधारशिला है प्रेम, प्रेम को पावन
बनाए रखिए, प्रेम निभाने की रीति सीखिए ।]

८ प्रीति की रीति क्या है ?

संगठन की आधार शिला प्रेम है । जब तक समाज के सदस्यों में ए
दूसरे के प्रति प्रेम भाव नहीं होता, तब तक वे सभी संगठित होकर कि
उद्देश्य के लिए प्रयत्न नहीं कर सकते । इसलिये आवश्यक है कि प्र
व्यक्ति के हृदय में अन्य सभी प्राणियों के प्रति सद्भावना और उदारता
संस्कृत के एक श्लोक में कहा गया है—

'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।

यानी जिसका चित्त उदार है, उसके लिये तो केवल अपना परिवार, गा
या देश ही नहीं अपितु संपूर्ण विश्व ही कुटुम्ब के समान है । संसार के प्र
प्राणी को वह अपना कुटुम्बी समझता है । जिस व्यक्ति का अन्तःकरण उदार
प्रेमानुभूति से आप्लावित होगा, उसका जीवन संपूर्ण संसार के लिए आ
का केन्द्र बन जायगा ।

'प्रेम बढ़ाओ!' यह कहने मात्र से तो किसी के हृदय में प्रेम जगाया
जा सकता है । इसके लिये अपने व्यवहार में परिवर्तन करना पड़ेगा और
किस प्रकार किया जा सकता है, यह हमें निम्नलिखित संस्कृत श्लोक में ब
गया है—

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति ।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीति लक्षणम् ॥

साराश यही है कि स्नेहपूर्वक किसी से दिया हुआ लेने पर परस्पर प्रेम की वृद्धि होती है।

३ गुह्यमाख्याति—प्रेम वृद्धि मे तीसरा कारण है अपने मन की गुप्त बात कह देना। जिस व्यक्ति पर विश्वास हो, उससे मन की न बताने वाली बात कहने से सुनने वाले का स्नेह बढता है और उसे प्रसन्नता होती है कि मुझे विश्वास के योग्य माना है। दूसरे, कहते है कि मन की व्यथा कहने से मन हलका हो जाता है और कभी-कभी सुनने वाले के द्वारा किसी समस्या का हल भी निकल आता है।

किन्तु ऐसी गुह्य बाते कहने से पहले सुननेवालो को खूब ठोक-बजाकर समझ लेना चाहिये। अगर वह ओछे दिल वाला हुआ तो कहने वाले को समाज के सामने उपहासपात्र या अपमानित बनाकर छोडेगा और ऐसे व्यक्ति से कुछ कहना खतरे से खाली नही होगा। एक दोहे मे कहा गया है—

कपटी मित्र न कीजिए पेस-पेस बुध लेत।
पहले ठाव बताइके पीछे गोता देत॥

ऐसे व्यक्ति ऊपर से तो नम्रता, पवित्रता और मित्रता का दावा करते किन्तु उनके अन्तर मे कपट का विष भरा होता है। किसी कवि ने सत्य कहा है—

मुख पद्मदलाकार वाचा चन्दन-शीतला।
हृदय कर्तरीतुल्य धूर्तस्य लक्षण त्रयम्॥

तात्पर्य यह कि धूर्त व्यक्ति के तीन लक्षण होते है। प्रथम मुख उसका कमल के पत्ते के समान कोमल होता है, दूसरे उसकी वाणी चन्दन के समान शीतल होती है किन्तु उसका हृदय कैंची के समान होता है।

इसलिए ऐसे व्यक्तियो से भूलकर भी मन की गुप्त बातें नहीं कहनी चाहिए, अन्यथा लेने के देने पड सकते है।

[सुख कैसा, किस से और कैसे मिले ? इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का अनुभवपूर्ण विश्लेषण।]

१ सुख की खोज

□

इस विराट् विश्व मे हम देखते है कि मनुष्य से लेकर पशु-पक्षी तथा छोटे-से-छोटे-कीट-पतग भी सुखप्राप्ति की इच्छा रखते है तथा उसके लिए अपनी शक्ति के अनुसार दौडधूप करते रहते है। सभी को सुख प्रिय है और दुख अप्रिय, अत सुख को प्राप्त करना और दुख से बचना चाहते है।

फिर भी महान् आश्चर्य की बात है कि कोई भी प्राणी अपने आपको सुखी अनुभव नही करता। सभी अपनी स्थिति से असन्तुष्ट रहते है। किसी को पुत्र का अभाव पीडित कर रहा है, कोई धनाभाव से दुखी हो रहा है, कोई रोग के फन्दे मे जकडा हुआ है, किसी को पारिवारिक क्लेश सता रहा है, किसी के पास मकान नही है, किसी को व्यापार मे घाटा हो रहा है और कोई कन्या के विवाह के लिए चिन्तित हो रहा है। इस प्रकार जिधर देखो और जिस व्यक्ति को देखो, वही किसी-न-किसी प्रकार के दुख, शोक, चिन्ता, व्याकुलता तथा व्यथा आदि के कारण अशान्त और दुखी दिखाई देता है।

ससार की इसी स्थिति के कारण जिज्ञासु व्यक्तियो के अन्त करण मे यह जानने की इच्छा बलवती होती है कि आखिर इसका कारण क्या है ? जिससे प्राणी सुख की अभिलाषा रखता हुआ तथा सुख के लिए प्रयत्न करते हुए भी सुख को अर्जित नही कर पाता।

को देखें तो वे भी सुखी नही दिखते है। उन्हे भी राजा-चोर आदि का भय बना रहता है। राजा की आँख जरा टेढी हुई नही कि सब धन-माल छीनकर देश-निकाला दे दिया जाता है। चोरो की नजर जम गई तो धन तो गया ही, प्राणो से भी हाथ धोना पड जाता है।

तो बन्धुओ, जैसा कि श्लोक मे कहा गया है—नित्य धन का लाभ होना ससार मे पहला सुख है, यह सही साबित नही होता। अपितु धन सदैव दुखदायी होता है। क्योकि—

अर्थानामर्जने दु ख अर्जितानाञ्च रक्षणे।
आये दु ख व्यये दु ख किमर्थं दु'ख साधनम् ॥

धन का उपार्जन करने मे भी दु ख है, उपार्जन कर लेने के बाद उसकी रक्षा करने मे दुख होता है। धन के आने मे दु ख और चले जाने मे भी दु ख। तब फिर अरे मानव ! तू जानबूझ कर क्यो दु ख-प्राप्ति का साधन करता है?

दूसरा सुख बताया है आरोग्यता। यानी निरोग रहना भी ससार के छह सुखो मे से एक सुख है।

इसके विषय मे आप और हम सभी जानते है कि सुन्दर स्वास्थ्य सदा सुखदायी है और स्वस्थ रहने पर इन्सान अपने आपको पूर्ण सुखी मानता है। कहा भी जाता है—पहला सुख निरोगी काया। किन्तु यह शरीर किसी हालत मे सदा स्वस्थ नही रह पाता है। चाहे व्यक्ति सदा ही पौष्टिक पदार्थ खाता रहे, फिर भी न जाने किस अदृष्ट मार्ग से आकर रोग उसे घेर ही लेते है और वृद्धावस्था के आ जाने पर तो वे हटाये नही हटते।

अत आरोग्यता को भी स्थायी सुख मानना भी निरा अज्ञान है।

अब हम श्लोक की दूसरी पक्ति पर विचार करते है। जो कहती है—

'प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।'

इसके अलावा मान भी लिया जाये कि कोई पुत्र सपूत है, तो भी उसकी ओर से क्या माता-पिता को सुख मिलता है? नहीं, जन्मने के साथ ही उसकी सार-सम्भाल करना शुरू हो जाता है, माता-पिता स्वयं अनेकानेक कष्ट सहकर उसका लालन-पालन करते हैं। इसके पश्चात् कुछ बड़ा होने पर उसकी पढ़ाई-लिखाई के खर्च आदि की चिन्ता में इतना परिश्रम करना पड़ता है कि माता पिता को स्वयं की ओर ध्यान देने का भी अवकाश नहीं मिलता। इसके पश्चात् जरा बड़ा होने पर शादी-विवाह की चिन्ता हो जाती है, उससे निवृत्त होते पर पौत्र-पौत्री हो गये तो उनकी मोह-ममता में पड़े रहकर अपनी आत्मा के लिए कुछ भी नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार पुत्र के जन्म से लेकर ही माता पिता को कभी शान्ति नसीब नहीं हो पाती और ऐसी स्थिति में पुत्र से सुख मिलता है, यह कहना भूल के अलावा और क्या कहा जा सकता है?

श्लोक में छठा सुख बताया गया है—अर्थ के उपार्जन में सहायक होने वाली विद्या का प्राप्त करना। पर क्या उस विद्या या शिक्षा से इन्सान सच्चे सुख की प्राप्ति कर सकता है? नहीं। पहले तो विद्यार्थी वर्षों तक अनेक विषयों की पोथियाँ रटते-रटते ही परेशान हो जाता है और पढ़-लिख लेने के बाद नौकरी मिल गई तो सुबह से शाम तक कार्यरत रहकर अपने स्वास्थ्य को खो बैठता है। प्राप्त धन उसे निन्यानवे के चक्कर में डाल देता है। चाहे वह सौ रुपये कमाता हो या हजार रुपये, अपनी भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं के पूरे न होने का रोना रोता रहता है। जैसे-जैसे लाभ बढ़ता जाता है, वैसे-ही-वैसे लोभ की मात्रा भी बढ़ती जाती है।

इस प्रकार धन का उपार्जन करने वाली विद्या को हासिल करके भी व्यक्ति कभी सुख का अनुभव नहीं कर पाता।

कहने का अभिप्राय यही है कि संसारी जीव परपदार्थों के निमित्त से सुख

भाव के बिना सब द्रव्य है

दान, शील, तप, स्वाध्याय, पूजा, आदि जितने भी धार्मिक कृत्य हैं, उन सब का फल तभी होता है, जब उनमें भाव हो, अर्थात् उनके साथ भावना का योग हो। भावशून्य क्रिया कभी फलप्रदायिनी नहीं हो सकती। आचार्य सिद्धसेन ने पार्श्वनाथ भगवान की स्तुति करते हुए कहा है—

> आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
> नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
> जातोऽस्मि तेन जन बांधव ! दुःखपात्रं,
> यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्या।[५]

हे प्रभो ! अनेक बार आपके दिव्य वचन सुनकर भी, आपकी पूजा करके भी, और क्या, आपके देव दुर्लभ दर्शन पाकर भी भक्तिपूर्वक उनमें मन नहीं लगाया। इसी कारण तो जन्म-जन्म में भटकते हुए दुःख पा रहा हूँ, क्योंकि भावशून्य क्रिया कभी फलदायी थोड़े ही होती है?

भाव रहा तो थोड़ा-सा सत्कर्म भी बहुत बड़ा फल देता है और भाव नहीं रहा तो जन्म भर किये गये सत्कर्म भी व्यर्थ तथा अल्पतम फल देने वाले होते हैं। कहा जाता है—

> नमक बिना ज्यों अन्न अलूना,
> आग बिना ज्यों जीवन सूना,
> भाव बिना त्यों धर्म अपूना।

आग के बिना ज्यों चौका सूना है, नमक बिना मसालेदार भोजन अलूना है, उसी प्रकार भाव के बिना समस्त धर्म क्रियाएँ अपूर्ण हैं, अधूरी हैं।

जैनधर्म भावप्रधान धर्म है। यहाँ प्रत्येक वस्तु का चिन्तन द्रव्य और

---

५ कल्याणमन्दिर स्तोत्र ३८

भाव दो दृष्टियों से किया जाता है। द्रव्य का अर्थ है—भावनाशून्य प्रवृत्ति। जैसे प्राणरहित शरीर होता है, उसे द्रव्यजीव कहते है, वैसे ही भावरहित धर्म को, द्रव्यधर्म कहते हैं। साधुपन, श्रावकपन, सामायिक, प्रतिक्रमण—सभी को द्रव्य और भाव की अलग-अलग कसौटियों पर कसा गया है। जिस क्रिया के साथ उपयोग नहीं होता, भाव नहीं होता, वह द्रव्यक्रिया है। आप प्रतिक्रमण कर रहे हैं, अथवा सामायिक कर रहे है, वेषभूषा, आसन आदि सब जमा लिए, मुँह से पाठ का उच्चारण भी करने लगे, लेकिन मन, भावना कही अन्यत्र भटक रही है तो ? आपका शरीर स्थानक मे बैठा है और मन दुकान मे ? तो क्या आपकी सामायिक भाव-सामायिक होगी ? नही ! आप मुँह से प्रतिक्रमण का पाठ बोल रहे हैं और मन कहीं किसी से राग-द्वेष कर रहा है, कहीं लेन-देन, खाने-पीने की चिन्ता में लगा है तो वह प्रतिक्रमण भी सिर्फ द्रव्य-प्रतिक्रमण होगा। अनुयोगद्वार सूत्र मे आवश्यक के दो भेद बताये गये है—द्रव्य-आवश्यक और भाव-आवश्यक। भावना रहित सिर्फ शब्दो का उच्चारण करना द्रव्य-आवश्यक है और शब्दो के साथ भाव, मन उसी मे अनुरक्त हो जाये तब वह भाव-आवश्यक होता है। बताया गया है—**तब्भावणाभाविए अन्नत्थ कत्थइ मण अकरेमाणे** ' उच्चारण किये जाने वाले शब्दो की जो भावना है, उस भावना मे भावित होकर जो मन को उसी मे स्थिर करता है, उसी को भाव-आवश्यक होता है।

फल भावानुसारतः

कभी-कभी आप लोग देखते हैं और सुनते भी है कि क्रिया कुछ और चल रही है और फल कुछ दूसरा ही आ रहा है। आप लोगो को आश्चर्य हो सकता है कि यह क्या ? वास्तव मे देखा जाय तो फल क्रिया के पीछे नही, भाव के पीछे चलता है। आगम मे बताया है धर्म मे स्थिर, उपयोगयुक्त संयमी साधु रास्ते चलता है, उसके पैर से किसी जीव का प्राणवध हो जाता है, दीखने मे

[संगत जैसी रंगत, सत्संगति के लाभ, जीवन-विकास में सत्संग का महत्त्व आदि पर गंभीर विचारणा।]

११ संगति कीजे साधु की

□

कोई भी व्यक्ति अपने जन्म के साथ ही विद्वत्ता, वीरता अथवा अन्य कोई उल्लेखनीय योग्यता लेकर नही आता। वह आगे जाकर जो कुछ भी बनता है, केवल संगति से ही बनता है। विद्वत्कुल मे जन्म लेने वाला शिशु अगर कुसंगति मे पड़ जाये तो चोर, डाकू, जुआरी और शराबी बन जाता है तथा हीन-कुल मे जन्म लेने वाला बालक सुसंगति पाकर महा विद्वान् और साधु पुरुष बनकर संसार के लोगों का श्रद्धापात्र बनता है। एक श्लोक मे कहा गया है—

> असज्जनः सज्जनसङ्गि सङ्गात् करोति दुःसाध्यमपीह लोके।
> पुष्पाश्रया शम्भुजटाधिरूढा पिपीलिका चुम्बति चन्द्रबिम्बम् ॥

असज्जन भी सज्जनों की संगति से इस संसार मे दुःसाध्य काम कर जाते हैं। फूलों के सहारे चींटी शंकर की जटा पर बैठकर चन्द्रमा का चुम्बन लेने पहुँच जाती है।

कहने का अभिप्राय यही है कि सत्संगति से न हो सकने वाला काम भी सहज और संभव हो जाता है। अगर व्यक्ति सदा श्रेष्ठ पुरुषों की संगति मे रहे तो अज्ञान, अहंकार आदि और दुर्गुण तो उसके नष्ट होते ही है, उसे मुक्ति के सर्वश्रेष्ठ मार्ग की पहचान भी होती है, जिसको पाकर वह अपने मानव-जीवन का सार्थक कर सकता है।

श्री भर्तृहरि ने भी सत्सगति का बडा भारी महत्त्व बताते हुए कहा है—

जाड्य धियोहरति सिञ्चति वाचि सत्य,
मानोन्नति दिशति पापमपाकरोति ।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्ति,
सत्सगति कथय किन्न करोति पु साम् ॥

सत्सगति बुद्धि की जडता को नष्ट करती है, वाणी को सत्य से सींचती है, मान बढाती है, पाप मिटाती है, चित्त को प्रसन्नता देती है, ससार मे यश फैलाती है । सत्सगति मनुष्य का कौन-सा उपकार नही करती है ?

प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यो ? इतना अधिक महत्त्व सत-समागम को किस लिये दिया गया है ? यही आपको आगे बताया जा रहा है ।

सत्सगति से लाभ

सज्जन पुरुषो के समागम से पहला और सर्वोत्तम लाभ यह है कि वे शत्रु और मित्र दोनो से ही समान व्यवहार करते है । वे सदा दूसरो का हित ही करते है, कभी भी किसी अन्य की चाहे वह उनका कट्टर वैरी ही क्यो न हो, हानि नही करते, उसके अहित की भावना हृदय मे भी नही लाते । इससे स्पष्ट है कि किन्ही कारणो से, अगर वे किसी का हित न कर पाये तो भी उनके द्वारा अहित होने का भय नही रहता है ।

सज्जनो की सगति से दूसरा लाभ बौद्धिक विकास के रूप मे होता है । सतो का अनुभव-ज्ञान बडा भारी होता है, अत उनके मार्ग-दर्शन से बिगडता हुआ कार्य भी बन जाता है । सच्चे सत भले ही जबान से शिक्षा न दे पर उनके आचरण से भी मनुष्य को मूक शिक्षा मिलती रहती है तथा जीवन सत्पथ पर बढता है । केवल किताबी ज्ञान ही मनुष्य को ऊचा नहीं उठा सकता, जब तक कि उसका आचरण भी ज्ञानमय न हो जाये तथा इसके लिए सत-समागम

आवश्यक है। बहुत-सी बातें ऐसी होती है, जिनका असर जबान से कहने पर नही अपितु बुद्धिमत्ता से क्रियात्मक रूप द्वारा समझाने से होता है।

तीसरा लाभ सत्सगति से यह होता है कि मनुष्य के मन के अनेक रोग मिट जाते है। मन के रोग क्या होते है? इस विषय मे जानने की आप को उत्सुकता होगी। यद्यपि वे आपसे छिपे नही है। आज सभी प्राणी इन रोगो से पीड़ित है पर उन्हे वे रोग नही मानते, तो मन के रोग है—क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, विषय-विकार, असहिष्णुता एव उच्छृखलता आदि। यही सब सत-समागम या उनके सहवास से निर्मूल होते है। इसीलिए उन्हे मगलमय तीर्थ कहा जाता है। सत तुलसीदास जी ने भी कहा है—

मुद मंगलमय सन्त समाजू। जिमि जग जगम तीरथ राजू॥

सज्जनो की सगति का चौथा लाभ यह है कि उससे गुणरहित व्यक्ति भी गुणवान बन जाता है। इस विषय मे हितोपदेश मे एक श्लोक दिया गया है—

काच काञ्चनससर्गाद्धत्ते मारकती द्युतिम्।
तथा सत्सनिधानेन मूर्खो याति प्रवीणताम्॥

सुवर्ण के सम्बन्ध से काच भी सुन्दर रत्न की शोभा को प्राप्त करता है, उसी प्रकार मूर्ख भी सज्जन के ससर्ग से चतुर हो जाता है।

मनुष्य कितनी भी शिक्षा प्राप्त कर ले और अपनी तर्कशक्ति बढा ले, उससे उसकी आत्मिक शक्ति नही बढ पाती। आज के युग मे शिक्षित व्यक्ति ही अधिकतर नास्तिक पाए जाते है। नास्तिको मे न तो ईश्वर के प्रति आस्था होती है और न ही उनका धर्म, कर्म, लोक, परलोक तथा पुण्य और पाप मे विश्वास होता है। परिणाम यह होता है कि वे पापो से नही डरते तथा दिन-रात अपनी आत्मा को अवनति की ओर ले जाते है। इसके विपरीत जो व्यक्ति अशिक्षित होते है, किन्तु सत-समागम करते है, वे हृदय और विचारो से महान बन जाते है। इसका कारण यही होता है कि सत्सगति से उनकी

देव, गुरु एव धर्म मे आस्था उत्पन्न हो जाती है और वे पूर्ण श्रद्धासहित जो भी क्रिया करते है, उसका उत्तम फल प्राप्त कर लेते हैं। इसीलिए पूज्यपाद प० मुनि श्री अमीऋषि जी महाराज ने कहा है—

उत्तम सग उमङ्ग धरी,
सजिये सुप्रसङ्ग अनग निवारे।
ज्ञान बधे रु सधे जिन आन,
अज्ञान कुमति को मूल उखारे।
शील सतोष क्षमा चित धीरज,
पातक से नित राखत न्यारे।
डारत दु ख भावोभव के रिख,
अमृत सङ्गत उत्तम धारे।

कवि ने मनुष्य को उद्बोधन दिया है कि सदा उत्साह और उमग के साथ उत्तम पुरुषो की सगति करो और उनकी सगति मे हृदय के भावो को निर्मल बनाते हुए विषय-विकारो का त्याग करो।

सत्सगति से तुम्हारा ज्ञान बढेगा तथा भगवान के वचनो का पालन हो सकेगा। इस सबसे बढकर तो यह होगा कि तुम्हारे हृदय मे घर किये हुए अज्ञान का लोप होगा एव कुबुद्धि जडमूल से नष्ट हो जायेगी।

तुम्हारे हृदय मे शील, सतोष, क्षमा, धैर्य आदि अनेक सद्गुणो का उदय होगा जो कि तुम्हारी आत्मा को पापो से दूर रखेगा तथा भव-भव के दुखो से छुटकारा दिलायेगा। इसलिये हे प्राणी! तुम उत्तम पुरुषो की सगति करो।

वस्तुत सत जनो की सगति से हृदय मे रहे हुए अवगुणो का नाश होता है तथा सद्गुणो का आविर्भाव हो जाता है।

अब सत्सगति का पाचवा लाभ क्या है? हमे यह देखना है। यह लाभ है मन मे असीम शाति की स्थापना होना। जो व्यक्ति सज्जनो की सगति करता

आवश्यक है। बहुत-सी बातें ऐसी होती हैं, जिनका असर जबान से कहने से नहीं अपितु बुद्धिमत्ता से क्रियात्मक रूप द्वारा समझाने से होता है।

तीसरा लाभ सत्संगति से यह होता है कि मनुष्य के मन के अनेक रोग मिट जाते हैं। मन के रोग क्या होते हैं? इस विषय में जानने की आप को उत्सुकता होगी। यद्यपि वे आपसे छिपे नहीं हैं। आज सभी प्राणी इन रोगों से पीड़ित हैं पर उन्हें वे रोग नहीं मानते, तो मन के रोग हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, विषय-विकार, असहिष्णुता एवं उच्छृंखलता आदि। यही सब सत-समागम या उनके सहवास से निर्मूल होते हैं। इसीलिए उन्हें मंगलमय तीर्थ कहा जाता है। संत तुलसीदास जी ने भी कहा है—

मुद मंगलमय सन्त समाजू। जिम जग जंगम तीरथ राजू॥

सज्जनों की संगति का चौथा लाभ यह है कि उससे गुणरहित व्यक्ति भी गुणवान बन जाता है। इस विषय में हितोपदेश में एक श्लोक दिया गया है—

काचः काञ्चनसंसर्गाद्धत्ते मारकती द्युतिम्।
तथा सत्सन्निधानेन मूर्खो याति प्रवीणताम्॥

सुवर्ण के सम्बन्ध से काच भी सुन्दर रत्न की शोभा को प्राप्त करता है, उसी प्रकार मूर्ख भी सज्जन के संसर्ग से चतुर हो जाता है।

मनुष्य कितनी भी शिक्षा प्राप्त कर ले और अपनी तर्कशक्ति बढ़ा ले, उससे उसकी आत्मिक शक्ति नहीं बढ़ पाती। आज के युग में शिक्षित व्यक्ति ही अधिकतर नास्तिक पाये जाते हैं। नास्तिकों में न तो ईश्वर के प्रति आस्था होती है और न ही उनका धर्म, कर्म, लोक, परलोक तथा पुण्य और पाप में विश्वास होता है। परिणाम यह होता है कि वे पापों से नहीं डरते तथा दिन-रात अपनी आत्मा को अवनति की ओर ले जाते हैं। इसके विपरीत जो व्यक्ति अशिक्षित होते हैं, किन्तु सत-समागम करते हैं, वे हृदय और विचारों से सरल बन जाते हैं। इसका कारण यही होता है कि सत्संगति में उनको

देव, गुरु एव धर्म मे आस्था उत्पन्न हो जाती है और वे पूर्ण श्रद्धासहित जो भी क्रिया करते है, उसका उत्तम फल प्राप्त कर लेते हैं। इसीलिए पूज्यपाद प० मुनि श्री अमीऋषि जी महाराज ने कहा है—

उत्तम सग उमङ्ग धरी,
सजिये सुप्रसङ्ग अनग निवारे।
ज्ञान वधे रु मधे जिन आन,
अज्ञान कुमति को मूल उखारे।
शील संतोष क्षमा चित धीरज
पातक से नित राखत न्यारे।
डारत दु'ख भावोभव के रिख,
अमृत सङ्गत उत्तम धारे।

कवि ने मनुष्य को उद्‌बोधन दिया है कि सदा उत्साह और उमग के साथ उत्तम पुरुषो की सगति करो और उनकी सगति मे हृदय के भावो को निर्मल बनाते हुए विषय-विकारो का त्याग करो।

सत्सगति से तुम्हारा ज्ञान बढ़ेगा तथा भगवान के वचनो का पालन हो सकेगा। इस सबसे बढकर तो यह होगा कि तुम्हारे हृदय मे घर किये हुए अज्ञान का लोप होगा एव कुबुद्धि जडमूल से नष्ट हो जायेगी।

तुम्हारे हृदय मे शील, सतोष, क्षमा, धैर्य आदि अनेक सद्‌गुणो का उदय होगा जो कि तुम्हारी आत्मा को पापो से दूर रखेगा तथा भव-भव के दुखो से छुटकारा दिलायेगा। इसलिये हे प्राणी! तुम उत्तम पुरुषो की सगति करो।

वस्तुत' सत जनो की सगति मे हृदय मे रहे हुए अवगुणो का नाश होता है तथा सद्‌गुणो का आविर्भाव हो जाता है।

अब सत्सगति का पाचवा लाभ क्या है? हमें यह देखना है। यह लाभ है मन मे असीम शाति की स्थापना होना। जो व्यक्ति सज्जनो की सगति करता

है, उससे मन में अपार शांति सदा बनी रहती है, क्योंकि सज्जनों की संगति करने वाले व्यक्ति की कोई निन्दा नही करता और उसे किसी प्रकार की लज्जा या शर्म का अनुभव नही होता। सत जनो की संगति करने वाला व्यक्ति अगर बुरा हो तब भी लोग उसे भला कहते हैं तथा बुरे व्यक्ति की संगति करने वाले अच्छे व्यक्ति को भी दुनिया बुरा ही मानने लगती है। कहा भी है—

सत संगत के वास सो अवगुन हू छिपि जात।
अहीरधाम मदिरा पिवै दूध जानिये तात॥
असत संग के वास सो गुन अवगुन है जात।
दूध पिवै कलवार घर मदिरा सबहि बुझात॥

कहने का अभिप्राय यही है कि दुनिया किसी भी व्यक्ति के साथियों को देखकर ही उस व्यक्ति के चरित्र का अन्दाज लगाती है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को सदा भले और सज्जन व्यक्तियों के सहवास मे ही रहना चाहिए।

इस प्रकार सत्संगति से व्यक्ति को अनेक लाभ होते है। सबसे बड़ा लाभ तो यही है कि सज्जनों की संगति करने से वह दुर्जनो के संग से बच जाता है। भले ही व्यक्ति संतजनों का उपदेश न सुने किन्तु समीप रहकर उनकी दिनचर्या का अवलोकन करते हुए भी धीरे-धीरे उनके सद्‌गुणो का अनुकरण करने लगता है और यही हाल दुर्जनों की संगति से होता है। न चाहने पर भी शनै-शनै वह दुर्गुणों की ओर उन्मुख हुए बिना नही रह पाता। उनके सहवास से लाभ रत्तीमात्र भी नही होता, केवल हानियां ही पल्ले पड़ती है। दुर्जन व्यक्ति संख्या मे अनेक होकर भी किसी व्यक्ति का भला नही कर सकते। क्योंकि वे स्वयं ही आत्मा को उन्नति की ओर अग्रसर करने का मार्ग नही खोज पाते। तभी कहा जाता है—

'शतमप्यन्धानां न पश्यति।'

सौ अधे मिलकर भी देख नही पाते। किन्तु इसके विपरीत सत-पुरुष भले ही अकेला हो, वह स्वय अपने लिए उत्तम मार्ग खोज लेता है तथा अन्य असख्य व्यक्तियो को भी मार्ग सुझाता है। चन्दन के समान वह अत्यल्प मात्रा मे होकर भी मनुष्य के मन को आह्लाद से भर देता है, जबकि गाडी भर लकडी भी उस कार्य को सपन्न नही कर सकती। किसी ने यही कहा है—

'चन्दन की चुटकी भली, गाडी भला न काठ।'

इसलिए बन्धुओ, भले ही सगति थोडे समय के लिए की जाय किन्तु सगति सत्पुरुषो की ही करनी चाहिए, उससे हमे जो लाभ होगा वह हमारे जीवन की उन्नति के पथ पर कई कदम आगे बढा सकेगा।

ध्यान मे रखने की बात है कि मनुष्य किताबी ज्ञान कितना भी हासिल कर ले, बडे-बडे ग्रन्थो को कठस्थ करके विद्वानो की श्रेणी मे अपने आपको समझने लग जाये, फिर भी वह ज्ञानी नही कहला सकता, क्योकि उसका ज्ञान तर्क-वितर्क तथा वाद-विवाद करके लोगो को प्रभावित करने तथा भौतिक उपलब्धियो को प्राप्त करने के काम ही आता है। वह ज्ञान उसकी आत्मा को कर्म-मुक्त करने मे सहायक नही बनता। सच्चा ज्ञान वही है जो आत्मा को शुद्धि की ओर बढाता है तथा शनै-शनै उसे भवभ्रमण से छुटकारा दिलाता है और ऐसा ज्ञान जिसे हम सम्यक् ज्ञान कहते है, सतजनो के सपर्क से ही हासिल हो सकता है।

बधुओ! इसीलिये कहा गया है कि सत्सगति करने से ज्ञान की वृद्धि होती है तथा सन्मार्ग प्राप्त होता है। सतजनो की सगति करने से सदा लाभ ही होता है। हानि की सभावना नही रहती। भले ही व्यक्ति ऐसी आत्माओ की सगति अधिक न कर सके, फिर भी उसे जहा तक बने प्रयत्न करना चाहिए। कभी-कभी तो क्षण भर का सत्सग भी जीवन को ऐसा मोड दे देता है कि जीवन भर की कमाई व्यक्ति को इस अल्पकाल मे ही हो जाती है। इसलिए आपको

सदा यह ध्यान रखना चाहिए कि अल्पकाल के लिए ही सही पर सत-समागम अवश्य करें। कौन जानता है कि किस क्षण मन की गति करवट बदले और गुरु का एक शब्द भी आपके जीवन को सार्थक बना दे।

वस्तुत: सतजीवन अत्यन्त दुष्कर, किन्तु महामहिम भी होता है। इसलिए व्यक्ति को उनके जीवन से ज्ञान पाने के लिए उनकी संगति करना चाहिए तथा उनके सदुपदेश एवं आचरण से अपने आत्म-कल्याण का मार्ग पाना चाहिए। सत्संगति से ही ज्ञानप्राप्ति संभव है और ज्ञानप्राप्ति से कर्मनाश करते हुए मुक्ति। अत: जिसे मुक्ति की अभिलाषा है, उसे सत्संगति का महत्व समझकर उसके द्वारा अपनी ज्ञानवृद्धि करना चाहिए।

[ऊनोदरी के गुण—ज्ञानार्जन, स्वाध्याय-कायोत्सर्ग आदि में अल्पभोजन सहायक। कम खाए सो सुख पाए आदि विषयों का स्पष्टीकरण]

१२ कम खाए, सुख पाए

□

ज्ञान आत्मा का निजी गुण है तथा वही आत्मा को ससार से मुक्त करने की शक्ति रखता है। इसकी महत्ता के विषय मे जो कुछ भी कहा जाये, कम है। फिर भी विद्वान अपने शब्दो मे इसके महत्त्व को बतलाने का प्रयत्न करते है। एक श्लोक मे कहा गया है—

> तमो धुनीते कुरुते प्रकाश,
> शम विधत्ते विनिहन्ति कोपम्।
> तनोति धर्मं विधुनोति पाप,
> ज्ञान न कि कि कुरुते नराणाम्॥

बताया गया है कि एक मात्र ज्ञान ही अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश करके आत्मा में अपना पवित्र प्रकाश फैलाता है तथा उसके समस्त निजी गुणो को आलोकित करता है।

ज्ञान ही आत्मिक गुणों को नष्ट करने वाले क्रोध को मिटाकर उसके स्थान पर समभाव को प्रतिष्ठित करता है, तथा पापों को दूर कर आत्मा मे धर्म की स्थापना करता है। अन्त मे सक्षेप मे यही कहा गया है कि ज्ञान मनुष्य के लिये क्या-क्या नही करता? अर्थात् सभी कुछ करता है जो आत्मा के लिये कल्याणकारी है।

ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर

इस संसार में ज्ञानी और अज्ञानी, दोनों प्रकार के प्राणी पाये जाते हैं। ज्ञानी पुरुष वे होते हैं जो अपने विवेक और विशुद्ध विचारों के द्वारा अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण रखते हैं तथा ज्ञान के आलोक में आत्म-मुक्ति के मार्ग को खोज निकालते है, किन्तु अज्ञानी व्यक्ति इसके विपरीत होते हैं। विषय-भोगों को उपादेय मानते हैं, और उन्हें भोग न पाने पर भी भोगने की उत्कट लालसा रखने के कारण निरंतर कर्मबंधन करते रहते हैं तथा अंत में अकाम मरण को प्राप्त होकर पुनः जन्म-मरण करते रहते हैं। इसीलिये ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर बताते हुए कहा गया है—

> जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुयाइं वास कोडीहिं।
> तं नाणी तिहिं गुत्तो खवेइ उस्सास मित्तेण॥

अर्थात् जिन कर्मों को क्षय करने में अज्ञानी करोड़ों वर्ष व्यतीत करता है, उन्हीं कर्मों को ज्ञानी एक श्वासमात्र के काल में ही नष्ट कर डालता है।

बन्धुओ! ज्ञानी और अज्ञानी की क्रिया में कितना अंतर है? ज्ञान का माहात्म्य कितना जबर्दस्त है? इसीलिये तो धर्मग्रन्थ तथा धर्मात्मा पुरुष सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति पर बल देते हैं। कहते हैं—अपने मन और मस्तिष्क की समस्त शक्ति लगाकर भी ज्ञान हासिल करो। ज्ञान हासिल करने के लिये वे अनेक उपाय भी बताते हैं। उनमें से ज्ञानप्राप्ति का एक उपाय है—ऊनोदरी करना। ऊनोदरी को हमारे यहाँ तप भी माना गया है जो मन और रसना इन्द्रिय पर नियन्त्रण करके भावनाओं और विचारों को आसक्ति तथा लालसा से रहित बनाता तथा आत्मा को शुद्ध करता है।

ऊनोदरी का अर्थ

ऊनोदरी का अर्थ है—कम खाना। आप सोचेंगे कि थोड़ा-सा कम खाना भी क्या तपस्या कहलायेगी? दो कौर (ग्रास) भोजन में कम खा लिये तो [illegible] किला मार लिया जायेगा?

परन्तु बधुओ, हमे इस विषय को तनिक गहराई से सोचना, समझना है। यह सही है कि खुराक मे दो-चार कौर कम खाने से कोई अन्तर नहीं पडता किन्तु अन्तर पडता है खाने के पीछे रही हुई लालसा कम होने से। आप जानते ही होंगे कि कर्मो का बधन कार्य करने की अपेक्षा उसके पीछे रही हुई भावना से अधिक होता है। आसक्ति और लालसा का कम होना ही वास्तव मे आतरिक तप है।

जैनागमो मे तपश्चर्या का बडा भारी महत्व बताया और विशद वर्णन किया गया है तथा आत्म-शुद्धि के साधनो मे तप का स्थान सर्वोपरि माना गया है। तपश्चरण साधना का प्रमुख पथ है। यह आन्तरिक (आभ्यन्तर) और बाह्य दो भेदो मे विभाजित है। प्रत्येक साधक तभी अपनी आत्मा को शुद्ध बना सकता है, जबकि उसका जीवन तपोमय बने।

तप का प्रभाव

तपस्या के द्वारा आत्मा का समस्त कलुष उसीप्रकार धुल जाता है, जिस प्रकार आप साबुन के द्वारा अपने वस्त्रो को धो डालते है। दूसरे शब्दो मे जिस प्रकार अग्नि मे तप कर स्वर्ण निष्कलुष हो जाता है, उसी प्रकार तपस्या की आग मे आत्मा का समग्र मैल भी भस्म हो जाता है तथा आत्मा अपनी सहज ज्योति को प्राप्त कर लेती है। तपस्या से मनुष्य अपनी उच्च-से-उच्च अभिलाषा को पूर्ण कर सकता है। तप का प्रभाव अबाध्य और अप्रतिहत होता है। वह अपने मार्ग मे आने वाली प्रबल-से-प्रबल बाधाओ को भी अल्पकाल मे ही नष्ट कर देता है तथा देव एव दानवो को अपने समक्ष झुका देता है।

आहार का प्रयोजन

सभी जानते है कि भोजन का प्रयोजन शरीर के निर्वाह के लिये आवश्यक है। ससार के प्रत्येक प्राणी का शरीर नैसर्गिक रूप से ही इस प्रकार का बना हुआ है कि आहार के अभाव मे वह अधिक काल तक नहीं टिक सकता।

इसलिये शरीर के प्रति रहे हुए ममत्व का परित्याग कर देने पर भी बड़े-बड़े महर्षियो को, मुनियो को तथा योगी और तपस्वियो को भी शरीरयात्रा का निर्वाह करने के लिये आहार लेना जरूरी होता है। किन्तु आज मानव यह भूल गया है कि इस शरीर का प्रयोजन केवल आत्म-साधना मे सहायक होना ही है। चूंकि शरीर के अभाव मे कोई भी धर्मक्रिया, साधना या कर्मबधनो को काटने का प्रयत्न नही किया जा सकता है। अतएव इसे टिके रहने मात्र के लिये ही खुराक देनी पड़ती है। शरीर साध्य नही है, यह अन्य किसी एक उत्तमोत्तम लक्ष्य की प्राप्ति का साधनमात्र है।

खेद की बात है कि आज का व्यक्ति इस बात को नही समझता। वह तो इस शरीर को अधिक-से-अधिक सुख पहुंचाना अपना लक्ष्य मानता है और भोजन को उसका सर्वोपरि उत्तम साधन। परिणाम यह हुआ कि इस प्रयत्न मे वह भक्ष्याभक्ष्य का विचार नही करता तथा मास एव मदिरा आदि निकृष्ट पदार्थों का सेवन भी निस्सकोच करता चला जाता है। जिह्वालोलुपता के वशीभूत होकर वह अधिक-से-अधिक खाकर अपने शरीर को पुष्ट करना चाहता है तथा ऊनोदरी किस चीज का नाम है, इसे जानने का भी प्रयत्न नही करता।

इसका परिणाम क्या होता है? यही कि अधिक ठूंस-ठूंस कर खाने से शरीर मे स्फूर्ति नही रहती, प्रमाद छाया रहता है और उसके कारण अध्यात्मसाधना गूलर का फूल बनी रहती है। मास-मदिरा आदि का सेवन करने से तथा अधिक खाने से बुद्धि का ह्रास तो होता ही है, चित्त की समस्त वृत्तिया भी दूषित हो जाती हैं। ऐसी स्थिति मे मनुष्य चाहे कि वह ज्ञानार्जन करे, तो क्या यह सभव है? कदापि नही। ज्ञान की साधना ऐसी सरल वस्तु नही है, जिसे इच्छा करते ही प्राप्त किया जाय। उसके लिये बड़ा परिश्रम, बड़ी सावधानी और भारी त्याग की आवश्यकता रहती है। आहार के कुछ भाग का त्याग करना अर्थात् ऊनोदरी करना भी उसी का एक अग है। अगर मनुष्य भोजन के प्रति अपनी

गृद्धता तथा गहरी अभिरुचि को कम करे तो वह ज्ञान हासिल करने मे कुछ कदम आगे बढ सकता है। क्योंकि अधिक खाने से निद्रा अधिक आती है तथा निद्रा की अधिकता के कारण बहुत-सा अमूल्य समय व्यर्थ चला जाता है।

आशय यही है कि मनुष्य अगर केवल शरीर टिकाने का उद्देश्य रखते हुए कम खाये या शुद्ध और निरासक्त भावनाओ के साथ ऊनोदरी तप करे तो अप्रत्यक्ष मे तप के उत्तम प्रभाव से तथा प्रत्यक्ष मे अधिक खाने से प्रमाद और निद्रा की जो वृद्धि होती है, उसकी कमी से अपनी बुद्धि को निर्मल, चित्त को प्रसन्न तथा शरीर को स्फूर्तिमय रख सकेगा तथा ज्ञानाभ्यास मे प्रगति कर सकेगा। खाद्य वस्तुओ की ओर से उसकी रुचि हट जायेगी तथा ज्ञानार्जन की ओर अभिरुचि बढेगी।

सुख-प्राप्ति के तीन नुस्खे

हकीम लुकमान से किसी ने पूछा—'हकीम जी! हमे आप ऐसे गुण बताइये कि जिनकी सहायता से हम सदा सुखी रहे। क्या आपकी हकीमी मे ऐसे नुस्खे हैं?

लुकमान ने चट से उत्तर दिया—'हैं क्यो नहीं, अभी बताये देता हूँ। देखो! अगर तुम्हे सदा सुखी रहना है तो केवल तीन बातो का पालन करो—पहली—कम खाओ, दूसरी—गम खाओ, तीसरी—नम जाओ।

हकीम लुकमान की तीनो बाते बडी महत्त्वपूर्ण है। पहली बात उन्होने कही—कम खाओ। ऐसा क्यो? इसलिये कि मनुष्य अगर कम खायेगा तो वह अनेक बीमारियो से बचा रहेगा। अधिक खाने से अजीर्ण होता है और अजीर्ण से कई बीमारियाँ शरीर मे उत्पन्न हो जाती है। इसके विपरीत अगर खुराक से कम खाया जाये तो कई बीमारियाँ बिना इलाज किये भी कट जाती है।

आज के युग मे तो कदम-कदम पर अस्पताल और हजारो डाक्टर है किन्तु प्राचीन काल मे जबकि डाक्टर नहीं के बराबर ही थे, वैद्य ही लोगो की बीमारियो का इलाज करते थे और उनका सर्वोत्तम नुस्खा होता था बीमार को लघन

करवाना। लघन करवाने का अर्थ है—आवश्यकतानुसार मरीज को कई-कई दिन तक खाने को नही देना। परिणाम भी इसका कम चमत्कारिक नहीं होता था। लघन के फलस्वरूप असाध्य बीमारिया भी नष्ट हो जाया करती थीं तथा जिस प्रकार अग्नि मे तपाने पर मैल जल जाने से सोना शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार उपवास की अग्नि मे रोग भस्म हो जाता था तथा शरीर कुन्दन के समान दमकने लग जाता था। लघन के पश्चात व्यक्ति अपने आपको पूर्ण स्वस्थ और रोग-रहित पाता था।

लुकमान की दूसरी बात थी—गम खाओ। आज अगर आपको कोई दो शब्द ऊचे बोल दे तो आप उछल पडते हैं। चाहे आप उस समय स्थानक मे संतो के समक्ष ही क्यो न खडे हो। बिना संत या गुरु का लिहाज किये ही उस समय ईंट का जवाब पत्थर से देने को तैयार हो जाते हैं। किन्तु परिणाम क्या होता है? यही कि तू-तू-मैं-मैं से लेकर गाली-गलौज की नौबत आ जाती है। पर अगर कहने वाले व्यक्ति की बातो को सुनकर भी आप उनका कोई उत्तर न दें तो? तो बात बढेगी नही और लडाई-झगडे की नौबत ही नहीं आयेगी। उलटे कहने वाले की कटु बाते या गालिया उसके पास ही रह जायेगी। जैसा कि सीधी-सादी भाषा मे कहा गया है—

दीधा गाली एक है, पलट्या होय अनेक।
जो गाली देवे नही, तो रहे एक की एक॥

हकीम लुकमान की तीसरी हिदायत थी—नम जाओ। नमना अर्थात नम्रता रखना भी जीवन को सुखी बनाने का सर्वोत्तम नुस्खा है। जो व्यक्ति नम्र होता है, वह अपनी किसी भी कामना को पूरी करने मे असफल नहीं होता। नम्रता मे अद्वितीय शक्ति होती है।

वस्तुतः अभिमान मनुष्य को नीचे गिराता है किन्तु नम्रता उसे ऊँचा उठाती है

ओर ले जाती है। महात्मा आगस्टाइन से एक बार किसी ने यह पूछ लिया—
'धर्म का सर्वप्रथम लक्षण क्या है ? उन्होंने उत्तर दिया—

'धर्म का पहला, दूसरा, तीसरा और किंबहुना सभी लक्षण केवल विनय मे निहित हैं।'

अधिक क्या कहा जाये, नम्रता समस्त सद्‌गुणो की शिरोमणि है। नम्रता से ही सब प्रकार का ज्ञान और सर्व कलाये सीखी जा सकती है, क्योंकि नम्र छात्र अपने क्रोधी-से-क्रोधी गुरु को भी प्रसन्न कर लेता है, जबकि अविनयी शिष्य शातस्वभावी गुरु को भी क्रोधी बना देता है। स्पष्ट है कि ज्ञान हासिल करने वाले शिष्य को अत्यन्त नम्र स्वभाव का होना चाहिये।

बधुओ ! मैं आपको बता यह रहा था कि प्रत्येक आत्म-हितैषी व्यक्ति को सम्यक्‌ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये और इसके लिये उसे ज्ञानप्राप्ति के समस्त उपायो को भली-भाति समझकर उन्हे कार्यरूप मे परिणत करना चाहिये। जैसा कि मैंने अभी बताया है, ऊनोदरी भी ज्ञान-प्राप्ति का एक उपाय है।

भूख से कम खाने से प्रथम तो खाद्य पदार्थों पर से आसक्ति कम होती है, दूसरे निद्रा एव प्रमाद मे भी कमी हो जाती है और तभी व्यक्ति स्वस्थ मन एव स्वस्थ शरीर से ज्ञानाभ्यास कर सकता है। कम खाना अर्थात् ऊनोदरी करना जिस प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से तप है, उसी प्रकार ज्ञानार्जन मे सहायक भी है। हमे दोनो ही दृष्टियो से महत्वपूर्ण मानकर उसे अपनाना चाहिये।

☆

उसने एक फकीर का वेश धारण किया और अपने आपको अत्यन्त रुग्ण दिखाते हुए जिधर से नावेर घोड़े पर चढ़कर जाया करता था, उस रास्ते पर बैठ गया। कुछ समय बाद नावेर जब घोड़े पर सवार होकर उधर से गुजरने लगा तो दाहर ने अपनी अशक्तता का प्रदर्शन करते हुए उससे प्रार्थना की कि वह घोड़े पर चढ़ाकर उसे अगले गाँव तक ले चले। नावेर बड़ा दयालु था, उसे फकीर वेशधारी दाहर पर दया आ गई और उसे घोड़े पर बैठाकर स्वयं पैदल चलने लगा।

किन्तु दाहर ने घोड़े पर बैठते ही चाबुक फटकारते हुए नावेर से कहा—'तुमने सीधी तरह घोड़ा नहीं दिया, अतः मैंने उसे अपनी चतुराई से ले लिया है।'

नावेर ने यह देखा तो पुकार कर दाहर से कहा—'भाई! तुमने असत्य-भाषण करके मेरा घोड़ा तो ले लिया तो कोई बात नहीं, किन्तु खुदा के लिए अपने असत्य की ऐसी सफलता का जिक्र किसी से मत करना, अन्यथा और लोग भी इसी प्रकार झूठ बोलकर अन्य निर्धन या भोले-भाले लोगों को ठगना प्रारम्भ कर देंगे और इस पृथ्वी पर पाप का बोझ बढ़ने लग जायेगा।"

नावेर की यह बात सुनकर दाहर के हृदय में एकदम और अप्रत्याशित परिवर्तन आ गया। उसने उसी वक्त लौटकर घोड़ा नावेर को लौटा दिया तथा सदा के लिए असत्य का त्याग करके उससे मैत्री कर ली।

यह था शुद्ध हृदय वाले तथा सत्य बोलने वाले की आन्तरिक शक्ति का प्रभाव। सत्य का जिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार अप्रत्यक्ष प्रभाव भी पड़े बिना नहीं रहता, क्योंकि भावना में बड़ी भारी शक्ति छिपी रहती है। सत्यवादी की अन्तरात्मा इसीलिए अत्यन्त प्रभावशाली बन जाती है और वह दूसरों के हृदय को परिवर्तित करने की क्षमता भी पा लेती है। नावेर का हृदय निष्कपट और सत्य के तेज से दीप्त था, इसीलिए दाहर के हृदय में [illegible] के शब्दों ने ऐसा परिवर्तन ला दिया।

संकट में भी सत्य को न त्यागो

किसी भी प्रकार की हानि या प्राणनाश के भय से भी हमें सचाई का त्याग नहीं करना चाहिए। ऐसा करने पर ही हमारी आत्मा शक्तिमान बनेगी तथा हृदय का अज्ञानान्धकार दूर होकर सम्यक् ज्ञान की पवित्र ज्योति जल उठेगी। संसार के सभी धर्म सत्यवादिता पर बड़ा जोर देते हैं तथा सत्य को सबसे बड़ा धर्म मानते हैं। कहा भी है—

> **सर्ववेदाधिगमन सर्वतीर्थावगाहनम्।**
> **सत्यस्यैव च राजेन्द्र ! कला नार्हन्ति षोडशीम्।**
>
> —महाभारत

समग्र वेदों का पठन और समस्त तीर्थों का स्नान सत्य के सोलहवें भाग की भी बराबरी नहीं कर सकता।

सत्य एक ऐसा ज्योतिर्मय दीपक है जिसे किसी भी प्रकार छुपाया नहीं जा सकता, क्योंकि वह अपना प्रकाश स्वयं लेकर चलता है। उसके समक्ष असत्य क्षणमात्र को भी ठहर नहीं सकता। उदाहरण के रूप में कहा जाये तो असत्य एक घास के ढेर के समान है, जिसे सत्य की एक चिनगारी ही भस्म कर डालती है।

सत्य का महत्त्व बतलाते हुए संस्कृत में एक श्लोक कहा गया है—

> **सत्येनार्कः प्रतपति सत्ये तिष्ठति मेदिनी।**
> **सत्यं चोक्तं परोधर्मः स्वर्गः सत्ये प्रतिष्ठितः ॥**

सत्य से ही सूर्य तप रहा है। सत्य पर ही पृथ्वी टिकी हुई है। सत्यभाषण सबसे बड़ा धर्म है। सत्य पर ही स्वर्ग प्रतिष्ठित है।

सत्य महान् धर्म है और अन्तरात्मा की सत्ता है। इसको दृढतापूर्वक ग्रहण कर लेने पर अन्य सब धर्म सरलता से आचरित हो सकते हैं किन्तु आवश्यक है कि सत्य केवल मनुष्य के वचन में ही न रहे, वह मन और क्रिया में भी आना

चाहिए। क्योंकि मन में जो सोचा जाता है वह वचन में आता है और मन तथा वचन में आया हुआ क्रिया में उतरता है। ये तीनों योग एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। इसीलिए भगवान महावीर ने कहा है—

'मणसच्चे वयसच्चे कायसच्चे।

केवल वचन से बोला हुआ सत्य जीवन को उन्नत नहीं बना सकता, जब तक कि मन में सचाई न हो और उसी के अनुरूप आचरण न किया जाए। कोई भी मानव तभी महामानव कहला सकता है जब कि उसके तीनों योगों में एकरूपता हो। इसीलिए मुमुक्षु पुरुष यह कामना करता है—'असतो मा सद्गमय।' मुझे असत्य से सत्य की ओर ले चलो, अर्थात् मेरे हृदय से असत्य को हटाकर उसमें सत्य को प्रतिष्ठित करो।

अन्धकार का आशय

प्रार्थना का दूसरा अंग है—**तमसो मा ज्योतिर्गमय**। मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो।

प्रश्न उठता है कि अन्धकार किसे कहते हैं और प्रकाश किसे? उत्तर यह है कि अज्ञान अन्धकार है और ज्ञान प्रकाश। इसीलिए महापुरुष मनुष्य के अज्ञान का अन्धकार दूर करने की बार-बार प्रेरणा देते हैं तथा अपने ज्ञान की ज्योति जलाकर उसे मार्ग सुझाते हैं। न मानने पर वे उसे ताड़ना भी देते हैं जैसा कि निम्नलिखित पद्य में झलकता है—

> पड़ा पर्दा जहालत का अकल की आंख पर तेरे।
> सुधा के खेत में तूने जहर का बीज क्यों बोया?
> अरे मतिमंद अज्ञानी जन्म प्रभुभक्ति बिन खोया॥

कहा है—'अरे निर्बुद्धि! तेरी अकल पर अज्ञान का यह कैसा पर्दा पड़ा हुआ है? इसी के कारण तुझे उचित अनुचित का भी ज्ञान नहीं रहा और तूने सुधा के इस खेत में विष का बीज बो दिया। अपना समग्र जीवन भी तूने ईश्वर की भक्ति के अभाव में निरर्थक खो दिया।

आपको जिज्ञासा होगी कि अमृत का खेत और जहर का बीज क्या है? बन्धुओ, यह मानव शरीर ही अमृत के बीज बोने का क्षेत्र है। अगर मनुष्य इस दुर्लभ जीवन को पाकर भी अपने मन के क्षेत्र मे दान, शील, तप, भाव, भक्ति और वैराग्य आदि के बीज नही बोता तो उसे मोक्ष रूपी अमृत फल की प्राप्ति कैसे हो सकती है? अमृतपान करने पर मनुष्य पुन नही मरता, इसी प्रकार मोक्ष प्राप्त कर लेने पर भी पुन पुन जन्म-मरण का कष्ट नही उठाना पडता। किन्तु अज्ञानी पुरुष ज्ञान के अभाव मे इस बात को समझ नही पाता तथा जिस मन के क्षेत्र मे अमृत के बीज बोने चाहिए, उसमे काम, क्रोध आदि जो आत्मा के लिए विष के बीज के समान है, उन्हे ही बोता रहता है। परिणाम यह होता है कि मोक्ष रूपी अमर फल की प्राप्ति के स्थान पर नरक, तिर्यंच गति रूप विष फल प्राप्त करता है तथा पुन-पुन जन्म और मरण के दुखो को भोगता है।

ऐसा क्यो होता है? इसलिए कि अज्ञानी की दृष्टि भूत और भविष्य से हटकर केवल वर्तमान तक ही सीमित रहती है, वह भविष्य की कुछ भी चिन्ता नही करता। इसीलिए वह अपने भविष्य को सुधारने की ओर ध्यान नही देता। अत मन की तरगो पर बहता रहता है, इन्द्रियो के सकेतो पर नाचता रहता है और विषय-वासनाओ के फदे मे फसा रहता है। इतना ही नही, अपनी घोर अज्ञानता के कारण वह अपने अज्ञान ही को नही समझ पाता। फिर उसे दूर करने की चेष्टा कैसे कर सकता है?

ज्ञान की महिमा

इसीलिए भक्त कामना करता है—'प्रभो, मुझे अज्ञान रूपी अन्धकार से बचाकर ज्ञान रूपी प्रकाश की ओर ले चलो।' भक्त ऐसी कामना क्यो करता है? क्यो वह ज्ञान के प्रकाश की ओर जाना चाहता है? इसलिए कि—

'अज्ञानप्रभव सर्वं ज्ञानेन प्रविलीयते।'

अज्ञान के प्रभाव से उत्पन्न सभी प्रकार का मायाजाल अथवा कर्मों का खेल ज्ञान की दिव्य शक्ति से नष्ट हो जाता है।

वस्तुत ज्ञान का प्रकाश फैलते ही भौतिक और आध्यात्मिक सभी प्रकार का अन्धकार लोप हो जाता है तथा मानव आत्मा और परमात्मा रूप तत्वों का चिन्तन, मनन एव अध्ययन करते हुए अपने मन के विकारो का और मोह का नाश करने के प्रयत्न मे जुट जाता है। ज्ञान की प्राप्ति होते ही उस ससार को सब कुछ समझने वाले प्राणी मे कितना परिवर्तन आ जाता है, यह प० अमीऋषि जी महाराज ने अपने निम्नलिखित एक पद्य द्वारा बतलाया है—

> गिने वनितादिक बंधन से पुनि कामविकार लखे जिमि नाग।
> अनित्य अपावन देह लखे, कबहूँ नहीं नेक धरे अनुराग॥
> गिने दुखदायक सुख सभी धनधाम ममत्व हरे करि त्याग।
> रहे निर्लेप सरोज यथा नर जान अमीरिख सत्य विराग॥

बन्धुओ! ज्ञान का यही सार है कि उसकी सहायता से आत्मा अपने निजस्वरूप को पहचाने तथा उसकी मुक्ति के लिए सम्यक् रूप से साधना करे। ज्ञान के अलावा ससार की अन्य कोई भी शक्ति उसे भवसागर से पार नहीं उतार सकती। कहा भी है—

> ससार सागर घोर तर्तुमिच्छति यो नर।
> ज्ञान नाव समासाद्य पार याति सुखेन स॥

जो मनुष्य इस घोर ससार सागर को सुख पूर्वक तैर जाना चाहता है, उसे ज्ञान रूपी नौका का सहारा लेना चाहिए।

वास्तव मे ज्ञान के समान अद्भुत और दुर्लभ वस्तु इस ससार मे दूसरी नहीं है। ज्ञान की महिमा की ससार के सभी शास्त्र एक स्वर से सराहना करते हैं और यह अतिशयोक्ति भी नहीं है। एक उक्ति से इसकी सचाई का अनुमान लगाया जा सकता है—

अज्ञानी क्षपयेत् कर्म यज्जन्म शतकोटिभि ।
तज्ज्ञानी तु त्रिगुप्तात्मा निहन्त्यन्तर्मुहूर्तके ॥

अर्थात् अज्ञानी पुरुष जिन कर्मों को नाना प्रकार के कष्ट सहन करके और तपस्या करके सैकडो-करोडो जन्मो मे खपा सकता है, ज्ञानी पुरुष उन्हे तीन गुप्तियो मे युक्त होकर मन, वचन, काय के व्यापारो का निरोध करके अन्त-र्मुहूर्त मे ही खपा डालता है।

इसीलिए तो भक्त कामना करता है—

तमसो मा ज्योतिर्गमय ।

'हे प्रभो! मुझे अज्ञान के अधेरे से निकाल कर ज्ञान के पवित्र और उज्ज्वल प्रकाश मे ले चलो। और अन्त मे वह कहता है—

'मृत्योर्मा अमृत गमय ।'

अर्थात्—'मुझे मृत्यु मे अमरता की ओर ले चलो।'

अमरता कैसे प्राप्त हो

मृत्यु से अमरता की ओर जाने का अर्थ है जन्म-मरण से मुक्त हो जाना। यह अभिलापा रहती तो प्रत्येक प्राणी मे है, पर केवल इच्छामात्र से तो सिद्धि मिल नही सकती। व्यक्ति अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाना चाहता है, किन्तु चले एक कदम भी नही, तो क्या वह अपने इच्छित स्थान पर पहुँच जायेगा? हम भी जन्म-मरण की शृ खला को तोडना चाहते है पर मोह, ममता और आसक्ति को नही छोड सकते, त्याग और तपस्या के मार्ग पर नही बढ सकते तो फिर आत्मा का कल्याण कैसे होगा? हम भूल जाते हैं कि यह ससार असार है, सासारिक सुख झूठे हैं, इसमे दिखाई देने वाले सभी दृश्यमान पदार्थ नश्वर हैं, और तो और, यह देह भी तो अपनी नहीं है, फिर भी कहते हैं यह मेरा है, यह मेरा है। क्या इसी भावना को लेकर हम अपने कर्मो को नष्ट कर सकते

है? तो जब यह सब अर्थात् संसार के समस्त पदार्थ, सारे सम्बन्धी और प्राणी धन-वैभव इस शरीर के नष्ट होते ही यहीं छूट जाने वाला है, हम क्यों न इन्हें पहले ही छोड़कर अपनी आत्मा को कर्मरहित बनाने का प्रयत्न करें ताकि यह देह रूपी पिंजरे से मुक्त होते ही अपने स्वभावानुसार ऊपर की ओर ही गमन करे, अपनी स्वाभाविक गति के विपरीत कर्मभार के बोझ से लदकर नीचे की ओर न जाये।

संसार छोड़ने का आशय है कि हम संसार के प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक प्राणी के प्रति रही हुई आसक्ति तथा मोह का त्याग करें, संसार में रहते हुए संसार से अलिप्त रहें। संसार का सभी कुछ, यहाँ तक कि यह शरीर भी चाहे कितनी भी इसकी सुरक्षा क्यों न की जाये, एक दिन नष्ट होने वाला है, अतः इसका ममत्व छोड़कर हमें अपनी आत्मा की रक्षा करनी चाहिए।

एक बार श्रीमद् राजचन्द्र ने एक व्यक्ति से प्रश्न किया—'अगर तुम एक हाथ में घी का भरा लोटा और दूसरे हाथ में छाछ का भरा लोटा लेकर चलो तथा रास्ते में किसी का धक्का लगे तो तुम किस लोटे को संभालोगे?

'घी का लोटा ही संभालेंगे।' उत्तर मिला।

राजचन्द्र मुस्कराते हुए बोले—'इतना ज्ञान होते हुए भी मनुष्य छाछ के समान देह को सम्भालता है और घी के समान जो आत्मा है, उसे गिरने देता है। कैसी नादानी है।'

तो बन्धुओ! हमें ऐसी नादानी नहीं करनी है। यही प्रयत्न करना है कि हमारी आत्मा उत्तरोत्तर उन्नत होती हुई मृत्यु से अमरत्व की ओर बढ़े और हमारी प्रार्थना—'मृत्योर्मा अमृतं गमय'—सार्थक बन सके।

परन्तु इस प्रार्थना को सार्थक करने के लिए आवश्यकता है कि यह वाणी के साथ-साथ हृदय से भी निकले। प्रार्थना के स्वरों के साथ अगर हृदय नहीं बोलता तो वह प्रार्थना परमात्मा से अधिक सम्बन्ध नहीं रखेगी। प्रार्थना

करने वाले व्यक्ति के हृदय मे मच्ची लगन और दृढता भी होनी चाहिए। वही पुरुषपुगव मुक्ति धाम का अधिकारी बन मकता है।

इमलिये बन्धुओ! अपनी इच्छाशक्ति को जगाओ, अपने आपमे विश्वास रखो तथा मच्चे हृदय से ईशप्रार्थना करते हुए कल्याण के मार्ग पर बढने का प्रयत्न करो। ऐमा करने पर निश्चय ही तुम्हे सत्य की प्राप्ति होगी, तुम्हारी आत्मा मिथ्यात्व और अज्ञान के घोर अधेरे से निकलकर ज्ञान के दिव्य प्रकाश की ओर बढेगी तथा मृत्यु को जीत कर अमरत्व की प्राप्ति कर मकेगी।

☆

है ? तो जब यह सब अर्थात् संसार के समस्त पदार्थ, सारे सम्बन्धी और अपार धन-वैभव इस शरीर के नष्ट होते ही यहीं छूट जाने वाला है, हम क्यों न इन्हें पहले ही छोड़कर अपनी आत्मा को कर्मरहित बनाने का प्रयत्न करें ताकि इस देह रूपी पिंजरे से मुक्त होते ही अपने स्वभावानुसार ऊपर की ओर ही गमन करे, अपनी स्वाभाविक गति के विपरीत कर्मभार के बोझ से लदकर नीचे की ओर न जाये।

संसार छोड़ने का आशय है कि हम संसार के प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक प्राणी के प्रति रही हुई आसक्ति तथा मोह का त्याग करें, संसार में रहते हुए संसार से अलिप्त रहें। संसार का सभी कुछ, यहाँ तक कि यह शरीर भी चाहे कितनी भी इसकी सुरक्षा क्यों न की जाये, एक दिन नष्ट होने वाला है, अतः इसका ख्याल छोड़कर हमें अपनी आत्मा की रक्षा करनी चाहिए।

एक बार श्रीमद् राजचन्द्र ने एक व्यक्ति से प्रश्न किया—'अगर तुम एक हाथ में घी का भरा लोटा और दूसरे हाथ में छाछ का भरा लोटा लेकर चलो तथा रास्ते में किसी का धक्का लगे तो तुम किस लोटे को सम्भालोगे ?

'घी का लोटा ही सम्भालेंगे।' उत्तर मिला।

राजचन्द्र मुस्कराते हुए बोले—'इतना ज्ञान होते हुए भी मनुष्य छाछ के समान देह को सम्भालता है और घी के समान जो आत्मा है, उसे गिरने देता है। कैसी नादानी है।'

तो बन्धुओ ! हमें ऐसी नादानी नहीं करनी है। यही प्रयत्न करना है कि हमारी आत्मा उत्तरोत्तर उन्नत होती हुई मृत्यु से अमरत्व की ओर बढ़े और हमारी प्रार्थना—'मृत्योर्मा अमृतं गमय'—सार्थक बन सके।

परन्तु इस प्रार्थना को सार्थक करने के लिए आवश्यकता है कि यह शब्दों के साथ-साथ हृदय से भी निकलती हो। प्रार्थना के स्वरों के साथ अगर हृदय नहीं बोलता तो वह प्रार्थना तोतारटन से अधिक महत्त्व नहीं रखेगी। प्रार्थना

करने वाले व्यक्ति के हृदय मे सच्ची लगन और दृढता भी होनी चाहिए। वही पुरुषपुंगव मुक्ति धाम का अधिकारी बन सकता है।

इसलिये बन्धुओ ! अपनी इच्छाशक्ति को जगाओ, अपने आपमें विश्वास रखो तथा सच्चे हृदय से ईशप्रार्थना करते हुए कल्याण के मार्ग पर बढने का प्रयत्न करो। ऐसा करने पर निश्चय ही तुम्हे सत्य की प्राप्ति होगी, तुम्हारी आत्मा मिथ्यात्व और अज्ञान के घोर अधेरे से निकलकर ज्ञान के दिव्य प्रकाश की ओर बढेगी तथा मृत्यु को जीत कर अमरत्व की प्राप्ति कर सकेगी।

[कषाय संसार वृद्धि का हेतु है। अकषाय मुक्ति का।
कषाय का स्वरूप और उससे मुक्त होने की विधि।]

१४ कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव

☐

अनादि काल से मानव के मन मे अपने अभ्युदय की अमर आकांक्षा रही है, किंतु दुःख है कि कोटि प्रयत्न करने पर भी वह पूर्ण नही हो पाई। क्यो नही हो पाई और उसके मूल मे बाधक कारण कौन-कौन से है? यही आज हमे जानना है और आत्मा को अवनति की ओर अग्रसर करने वाले उन घातक कारणो को समूल नष्ट करने का प्रयास प्रारंभ करना है।

कषाय चतुष्टय

आत्मा को स्वभाव दशा से विभाव दशा मे ले जाने वाले तथा जन्म-मरण की कठोर शृंखलाओ मे जकडने वाले चार कषाय है[1]—क्रोध, मान, माया एव लोभ। ये ही चतुष्कषाय आत्मा के सद्गुणो का नाश करते हैं और ऊर्ध्वगामी होने के बजाय अधोगामी बना देते है। कहा भी है—

> **कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो।**
> **माया मित्ताणि नासेइ लोभो सव्व विणासणो॥[2]**

अर्थात् क्रोध आत्मा के प्रीति गुण का नाश करता है, मान विनय गुण का, माया मैत्री का तथा लोभ उसकी समस्त विशेषताओं को नष्ट कर देता है।

---

१ कषाय की व्याख्या भी यही की गई है।
२ दशवैकालिक सूत्र ८

इस प्रकार हमारी आत्मा जो जीवराज है, सत्-चित्-आनदमय है, निर्विकार और निष्कलक है तथा अत्यन्त शक्तिशालिनी है, इन कपायो के फेर मे पडकर अपनी दिव्यता को खो बैठती है तथा कर्मों के आवरणो से वेष्टित होकर जन्म-जन्मान्तरो तक नाना योनियो मे परिभ्रमण करती रहती है, इसलिये कर्मबधन के प्रधान कारण तथा दु ख व अशाति के बीजरूप कपायो से प्रत्येक मानव को बचने का प्रयत्न करना अनिवार्य है। दशवैकालिक सूत्र मे भी यही निर्देश किया गया है—

वमे चत्तारि दोसाइं इच्छन्तो हियमप्पणो।'

इसका अर्थ है—अपना हित चाहने वाला प्राणी इन चारो दोपो का वमन करता है अर्थात् इन्हे त्याग देता है।

जब तक कपाय मन्द नही होते तब तक सुख एव शाति प्राप्त करने के समस्त बाह्य प्रयत्न व्यर्थ हो जाते हैं। जिस प्रकार शीतल जल के चार छींटे दूध के उफान को नही रोक पाते, उसी प्रकार पूजा पाठ, भजन व प्रवचन-श्रवण आदि बाह्य क्रियायें कपयो की वह्नि से झुलसती हुई आत्मा को शीतलता प्रदान नही कर सकती। कपायो की करामात का पूज्यपाद श्री तिलोकऋषि जी महाराज ने अपने एक पद्य मे अत्यन्त रुचिकर ढग से वर्णन किया है—

प्रेम से जुंझारसिंह वश किया जीवराज,
मानसिंह मायोदास मिलिया चारो भाई हैं।
कर्मचन्द काठा भया रूपचन्द जी से प्यार,
धनराज जी की बात चाहत सदा ही है।
ज्ञानचन्द जी की बात सुने न चेतनराम,
आवे नहीं दयाचन्द सदा सुखदाई है।
कहत त्रिलोक रिख मनाइ लीजे नेमचन्द,
नहीं तो कालूराम आया विपत सवाई है।

वैभव क्यो न इकट्ठा हो जाये, उससे भी अधिक पाने की लालसा बढती जाती है। इसीलिये कहा गया है...

> जहा लाहो तहा लोहो लाहा लोहो पवड्ढइ।
> दो मास कय कज्ज कोडीए वि न निट्ठय॥

अर्थात् जैसे-जैसे लाभ होता है वैसे-वैसे लोभ बढता जाता है। लाभ ही लोभ को बढता है। दो माशे सोने के लिये आया हुआ ब्राह्मण एक करोड मे भी सतुष्ट नही हुआ।

लाभ और लोभ मे विशेष अन्तर नही है। सिर्फ एक मात्रा ही बढती है किन्तु उस मात्रा के कारण ही कितना अनर्थ होता है। लोभ के आते ही अनेक घर बर्बाद हो जाते है। आपने सुना ही होगा—अनेक ठग भोली बहिनों को लोभ के फदे मे फसा कर लूट लेते है। एक तोला सोने का दस तोला सोना बना देने का लालच देते है और उनके मूल को भी ले उडते है। लोग यह नहीं सोचते कि उस धूर्त व्यक्ति मे अगर इतनी शक्ति होती तो वह स्वय दर-दर क्यो भटकता? पर लोभ का जाल ही ऐसा है कि व्यक्ति उधार लेकर भी उसमे फस जाते है।

जीवात्मा जब लोभ और लालच मे फस जाता है तब कहीं का नही रहता। आपने देखा होगा-चूहा कुछ खाने के लालच मे पिजरे मे घुसता है और पकडा जाता है। मछली पकडनेवाले भी कांटे मे आटा लगाकर उसे जल मे छोड देते है और मछली आटा खाने के लोभ मे आकर यह नही देखती कि उसमे काटा भी है। मराठी मे कहा भी है—

> 'आमिषाच्या आशे गल गिळीयाला,
> काटोनिया घसा मरण पावे।'

आमिष यानी खाने की आशा मे मछली खाद्य-वस्तु पर झपट्टा मारती है पर काटा उसके गले मे फस जाता है और वह बाहर [illegible] जाती है।

बताइये मछली क्यो मरी ? खाने के लालच मे ही न ? इसीलिये लोभ—लालच को त्यागने का विधान आगमो मे किया गया है । क्योकि लोभ की कोई सीमा नही है—

इच्छा हु आगाससमा अणंतिया ।

इच्छायें आकाश के समान अनन्त हैं । लोभी व्यक्ति यह नही देखता कि मेरी आवश्यकतायें कितना सचय चाहती है ? सचय और आवश्यकताओं की कोई सीमा उसके सामने नही होती । वह तो केवल सग्रह करने और उसकी चौकीदारी करने का ख्याल रखता है । परिणाम यह होता है कि अति आसक्ति के कारण उसके कर्मों का पिटारा भारी होता जाता है । कविता के दूसरे चरण मे यही कह गया है—

कर्मचन्द्रजी काठा भया रूपचन्दजी सू प्यार,
धनराज जी की बात चाहत सदा ही है ।

जब कषायो मे आत्मा फसी रहती है तो कर्मों का दृढ बधन होता है, किन्तु रूपचन्दजी की उपेक्षा करना भी तो सहज नही है । माल कमाने मे आप कितना प्रयत्न करते हैं ? बे-हिसाब और नामस्मरण करने मे ? जरा भी नही ! दुख की बात है कि आपको यह ख्याल नही रहता कि भगवान का स्मरण आत्मा के साथ चलेगा और धन-माल सब यही रह जायेगा । किन्तु धनराज जी के सामने आपका वश नही चलता । रुपया, पैसा, खेत, बाग, बगीचा, मोटर, बगला और अन्य अनेकानेक वस्तुये आप चाहते हैं । यह सही है कि आप ससारी है, आजीविका के बिना आपका काम नही चलता किन्तु तनिक ज्ञानचन्दजी की बात भी तो आपको सुनना चाहिये—

'ज्ञानचन्दजी की बात सुने न चेतनराम,
आवे नही दयाचन्द्र सदा सुखदाई है ।'

ज्ञान की बात चेतन सुनने को तैयार नही होता । हमे यह देखना है कि ज्ञान की बात क्या है ?

आने वाले है। वे किसी को भी छोडने वाले नही हैं। चाहे कोई डाक्टर हो, वकील हो, इन्जीनियर हो। किसी भी साहब का कालचन्दजी को त्याग नही है।

सच्चा हितैषी धर्म

प्रत्येक मानव को एक दिन इस ससार को छोडकर जाना पडेगा। यहाँ की एक भी वस्तु उसके साथ जाने वाली नही है। साथ जायेगा तो केवल शुभ और अशुभ कर्मो का गट्ठर ही। अशुभ कर्मो की यह गठरी विषय कषायो की तीव्रता से ही अधिकाधिक भारी होती है और आत्मा को पुन-पुन जन्ममरण के लिये बाध्य करती है। ये ही वे कारण है जिनके कारण मनुष्य मुक्ति की आकाक्षा रखते हुए भी मुक्त नही हो सकता। अनन्त सुख की प्राप्ति की अभिलाषा होते हुए भी उसे प्राप्त नही कर सकता तथा अनन्त काल तक नाना प्रकार के दुखो का अनुभव करता रहता है। इसलिये आवश्यक ही नही, अनिवार्य है कि जन्म-मरण के मूल का सिंचन करने वाले इन विषय-कषायो से अलग रहने का प्रयत्न किया जाये, इन्हे समूल नष्ट करने मे एक मात्र धर्म ही सहायक हो सकता है।

धर्म से हमारा तात्पर्य बाह्य आडबर या दिखावे से नही है। पूजा-पाठ कर लेना, गगा स्नान कर आना तिलक-छापे लगा लेना या केवल मुख वस्त्रिका बाधकर अडतालीस मिनिट तक एक स्थान पर बैठ जाना ही धर्म नही है, वरन जीवन मे सद्गुणो, सद्वृत्तियो तथा हितकारी भावो का लाना ही धर्म है। दूसरे शब्दो मे जीवन का मर्यादित एव सुसस्कृत होना ही धर्म है। सच्चा धर्म कषाय-विष का नाश करते हुए जीवन के लिये परम रसायन सिद्ध होता है।

अत. मुक्ति के इच्छुक प्राणी को अपनी आकाक्षा पूर्ण करने के लिये इन्द्रियो पर तथा मन पर अकुश लगाना पडेगा। काम, क्रोध, मोह, लोभ, आसक्ति तथा लालसा आदि पर विजय प्राप्त कर अनासक्ति और निर्वेद भाव को अपनाना होगा। क्योकि जब तक मन पर विजय प्राप्त नही की जायेगी, कषायो

के तूफानो को रोकना असम्भव होगा। प्राणी उसी अवस्था मे मुक्त हो सकेगा जबकि उसकी आत्मा सासारिक वासनाओ और क्रियाकाडो को ही धर्म समझने वाली अज्ञानता से मुक्त रहेगी। मोक्ष किसी स्थान पर नहीं होता है, वह स्वय आत्मा मे ही निहित होता है। हृदय की अज्ञान-ग्रन्थि का नष्ट होना ही मोक्ष कहा जाता है।

बधुओ, अब आप समझ गये होगे कि विषय और कषाय ही आत्मा के सहज स्वभाव और ज्ञान पर आवरण बनकर छाये हुए होते हैं और इन्हे हटा देने पर आत्मा अपने सहज स्वभाव को प्राप्त करती है तथा सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर अजर, अमर, शातिमय लोक मे अपना स्थान बनाती है। कषायो का परित्याग करने पर ही ससार को हटानेवाली प्रवृत्तियो का आविर्भाव होता है तथा कर्मों का आस्रव रुकता है। इसे ही धर्म नाम की सज्ञा दी जाती है। ऐसे धर्म का ही वीतराग महापुरुषो ने निरूपण किया है, जिसे अपनाना तथा उसमे बताये गये विधि-निषेधो का पालन करना प्रत्येक मुमुक्षु का कर्तव्य है। अगर वह ऐसा करने मे समर्थ हो जाता है तो ससार की कोई भी शक्ति उसे शाश्वत सुख का अधिकारी बनने मे नही रोक सकती।

☆

[मन की महिमा—मन चगा तो कठोत ही में गगा,
मन शुद्धि की अपेक्षा है, इन सूत्रों का सुन्दर विवेचन ।]

१५ मन की महिमा

□

आज हम कर्म-बधन और मुक्ति के कारण के बारे मे विचार करेंगे कि कर्मों के बधन मे और उनसे मुक्ति मे मुख्य हेतु क्या है ?

कर्मबंध का कारण

धर्मशास्त्रो मे तीन प्रकार के योग बताये गये है—मनोयोग, वचनयोग और काययोग। इन तीनो योगो मे से किसी भी योग का कषाय के साथ सबन्ध होने से कर्मबध होता है। कषाय चार है—क्रोध, मान, माया और लोभ। इन चारो मे से किसी भी एक या एक से अधिक कषाय के साथ मन, वचन और काया के योग जुडेंगे तभी कर्म का बध होगा। अकेले कषाय या अकेले योग से कर्म नही बधते। कषाय अगर नही है तो तीनो योगो के विद्यमान रहते हुए भी कुछ नहीं होगा। और तीनो योगो का सबन्ध न होने पर कषाय कर्मो का बधन आत्मा के साथ करेंगे भी कैसे ? आशय यही है कि कर्मबधन तभी होगा जब कषायो का और योगो का आपस मे सम्बन्ध होगा।

कर्म का अबंधक कौन ?

हमारे तीर्थंकर भगवान जो विदेही हैं और जिन्होने केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त कर लिया है, उनके मन, वचन और काया इन तीनो योगो के रहते हुए भी कर्मबध नही होता। उन्हे पाप नही लगता। ऐसा क्यो ? इसलिये कि उनके योग हैं पर कषाय नही है। अगर कषाय होते और मोहनीय

कर्म भी जीता न जाता तो उन्हें केवलज्ञान नहीं हो सकता था। समस्त कर्मों के शिरोमणि मोहकर्म को जीत लेने के कारण ही उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है और इसके कारण उनके पापकर्मों का बंधन नहीं होना—कहा गया है।

विदेह शब्द का अर्थ

हम प्रायः महापुरुषों के लिये 'विदेह' शब्द का प्रयोग देखते हैं। राजा जनक को विदेही कहा जाता है। बड़े-बड़े योगी भी उनके पास ज्ञान प्राप्ति के हेतु आते थे।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में राजकुमार मृगापुत्र के लिये कहा गया है—**'जुवराया दमीसरे।'** जुवराया यानी युवराज और दमीसरे अर्थात् इन्द्रियों तथा मन का दमन करने वाला। दो विरोधी शब्दों का कितना आश्चर्यजनक मेल है? भविष्य में जो राजा बनने वाला है उस युवराज को दमीसरे कहा गया है। पढ़कर आश्चर्य होता है कि युवराज की पदवी के साथ इन्द्रिय और मन के दमन की पदवी भी चल सकती है? एक युवराज या राजा अपनी इन्द्रियों को वश में रख सकता है? क्या एक ही व्यक्ति राजा और योगी दोनों के योग्य कर्तव्यों का समीचीन रूप से निर्वाह कर सकता है?

साधारण दृष्टि से देखा जाये तो ऐसा होना संभव नहीं लगता। क्योंकि एक का प्रवृत्तिमार्ग है और दूसरे का निवृत्तिमार्ग। प्रवृत्ति और निवृत्ति एक साथ कैसे चल सकती हैं? प्रवृत्ति सामाजिक उलझनों में फँसाती है और निवृत्ति त्याग की ओर बढ़ाती है। किन्तु मृगापुत्र के लिये दोनों को साथ ही रखा गया है। अतः हमें बारीकी से इसमें रहे हुए रहस्य को समझना है।

यह रहस्य इस तरह जाना जा सकता है कि विदेह विशेषण उन महात्माओं के लिये प्रयुक्त किया जाता है जो संसार में रहकर भी अपने अन्तर में संसार को नहीं रहने देते हैं।

अछूते वने रहते है। वे समस्त सासारिक कार्यों और कर्तव्यों को संपन्न करते हुए भी ससार मे अपनी आसक्ति, मोह की गृद्धता नही रखते। अर्थात् वे बाह्य ससार को बाहर ही रहने देते हैं, अपने अन्दर नही आने देते और इसी का नाम विदेह होकर रहना है।

मन—बंध-मुक्ति का कारण

पढकर आश्चर्य होता है कि ऐसा कैसे हो सकता है? धन का उपयोग करते हुए भी उससे निर्लिप्त और समस्त इन्द्रिय-सुखो को भोगते हुए भी उनमे किसी व्यक्ति को विरक्त कैसे माना जा सकता है? परन्तु सारा रहस्य यही है और आपकी इस जिज्ञासा के उत्तर मे ही है। वास्तविकता यह है कि पापकर्मों के बधन का असली कारण मनोयोग है, अर्थात् मन की प्रवृत्तियों से ही कर्मों का बधन और उनका झडना सम्भव है। कहा भी है—

> **मन एव मनुष्याणा कारण बन्ध-मोक्षयो.।**
> **बन्धाय विषयासक्त मुक्त्यै निर्विषय स्मृतम्॥**

अर्थात्—यह मन ही मनुष्यो के बन्धन और मोक्ष का कारण है। जो मन विषयो मे आसक्त होता है वह बधन मे जकडता है और जो विषयो से विमुख हो जाता है, वह मोक्ष का कारण होता है। स्पष्ट है कि पापो का मूल मन है। अगर मन मे पाप है, आसक्ति है, गृद्धता है तो मनुष्य पापी है और मन मे पाप आदि नहीं है तो वह निष्पाप है।

बंधुओ! जो व्यक्ति प्रशसा-अप्रशसा की, लक्ष्मी के आने या जाने की, किसी भी प्रकार के भय या लालच की तथा मृत्यु के आतक की भी परवाह नहीं रखता वही कल्याण के सत्पथ पर विदेह होकर चल सकता है और वही व्यक्ति अपने मन पर सयम रखने मे समर्थ हो सकता है।

मन बड़ा चचल होता है और इसे वश मे रखना बड़ा कठिन है। जैसा कि एक श्लोक मे कहा गया है—

अछूते बने रहते हैं। वे समस्त सांसारिक कार्यों और कर्तव्यों को संपन्न करते हुए भी संसार में अपनी आसक्ति, मोह की गृद्धता नहीं रखते। अर्थात् वे बाह्य संसार को बाहर ही रहने देते हैं, अपने अन्दर नहीं आने देते और इसी का नाम विदेह होकर रहना है।

मन—बंध-मुक्ति का कारण

पढ़कर आश्चर्य होता है कि ऐसा कैसे हो सकता है? धन का उपयोग करते हुए भी उससे निर्लिप्त और समस्त इन्द्रिय-सुखों को भोगते हुए भी उनसे किसी व्यक्ति को विरक्त कैसे माना जा सकता है? परन्तु सारा रहस्य यही है और आपकी इस जिज्ञासा के उत्तर में ही है। वास्तविकता यह है कि पापकर्मों के बंधन का असली कारण मनोयोग है, अर्थात् मन की प्रवृत्तियों से ही कर्मों का बंधन और उनका झड़ना सम्भव है। कहा भी है—

> **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः।**
> **बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥**

अर्थात्—यह मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है। जो मन विषयों में आसक्त होता है वह बंधन में जकड़ता है और जो विषयों से विमुख हो जाता है, वह मोक्ष का कारण होता है। स्पष्ट है कि पापों का मूल मन है। अगर मन में पाप है, आसक्ति है, गृद्धता है तो मनुष्य पापी है और मन में पाप आदि नहीं है तो वह निष्पाप है।

बंधुओ! जो व्यक्ति प्रशंसा-अप्रशंसा की, लक्ष्मी के आने या जाने की, किसी भी प्रकार के भय या लालच की तथा मृत्यु के आतंक की भी परवाह नहीं करता वही कल्याण के सत्पथ पर विदेह होकर चल सकता है और वही व्यक्ति अपने मन पर संयम रखने में समर्थ हो सकता है।

मन बड़ा चंचल होता है और इसे वश में रखना बड़ा कठिन है। जैसा कि एक श्लोक में कहा गया है—

अछूते बने रहते हैं। वे समस्त सांसारिक कार्यों और कर्तव्यों को संपन्न करते हुए भी संसार में अपनी आसक्ति, मोह की गृद्धता नहीं रखते। अर्थात् वे बाह्य संसार को बाहर ही रहने देते हैं, अपने अन्दर नहीं आने देते और इसी का नाम विदेह होकर रहना है।

मन—बंध-मुक्ति का कारण

पढ़कर आश्चर्य होता है कि ऐसा कैसे हो सकता है? धन का उपयोग करते हुए भी उससे निर्लिप्त और समस्त इन्द्रिय-सुखों को भोगते हुए भी उनसे किसी व्यक्ति को विरक्त कैसे माना जा सकता है? परन्तु सारा रहस्य यही है और आपकी इस जिज्ञासा के उत्तर में ही है। वास्तविकता यह है कि पापकर्मों के बंधन का असली कारण मनोयोग है, अर्थात् मन की प्रवृत्तियों से ही कर्मों का बंधन और उनका झड़ना सम्भव है। कहा भी है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयो.।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥

अर्थात्—यह मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है। जो मन विषयों में आसक्त होता है वह बंधन में जकड़ता है और जो विषयों से विमुख हो जाता है, वह मोक्ष का कारण होता है। स्पष्ट है कि पापों का मूल मन है। अगर मन में पाप है, आसक्ति है, गृद्धता है तो मनुष्य पापी है और मन में पाप आदि नहीं है तो वह निष्पाप है।

बंधुओ! जो व्यक्ति प्रशंसा-अप्रशंसा की, लक्ष्मी के आने या जाने की, किसी भी प्रकार के भय या लालच की तथा मृत्यु के आतंक की भी परवाह नहीं करता वही कल्याण के सत्पथ पर विदेह होकर चल सकता है और वही व्यक्ति अपने मन पर संयम रखने में समर्थ हो सकता है।

मन बड़ा चंचल होता है और इसे वश में रखना बड़ा कठिन है। जैसा कि एक श्लोक में कहा गया है—

य स्वभावो भवेद्यस्य स तेन खलु दुस्त्यज ।
न हि शिक्षाशतेनापि कपिर्मुञ्चति चापलम् ॥

जिसका जैसा स्वभाव बन जाता है, उसका छूटना अत्यन्त कठिन होता है। और उसी प्रकार जिस प्रकार कि सैकड़ो शिक्षायें देने पर भी बन्दर अपनी चंचलता नही छोड़ता।

मन को भी बंदर की उपमा दी गई है। लाख बार समझाने पर भी बन्दर एक स्थान पर बैठा नहीं रह सकता। उछल-कूद मचाता रहता है, इसी प्रकार चिन्तन, ध्यान आदि के द्वारा स्थिर करने का प्रयत्न करने पर भी मन की भागदौड़ बंद नहीं होती है।

भगवद्गीता मे उल्लेख है कि अर्जुन मन की चंचलता से परेशान होकर श्रीकृष्ण से कहते हैं—'हे वासुदेव ! यह मन अत्यन्त चपल है और प्रमथन स्वभाववाला है। अत्यन्त बलवान और दृढ है। मुझे तो ऐसा लगता है कि उसे वश मे करना वायु को वश मे करने के समान दुष्कर है। कैसे इस पर संयम किया जाये।'

इसके उत्तर मे श्रीकृष्ण ने कहा—

असंसय महाबाहो ! मनो दुर्निग्रह चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते ॥

अर्थात्—हे महाबाहो ! निस्सन्देह यह मन अत्यन्त चंचल है और कठिनता से वश मे आने वाला है, किन्तु अभ्यास से अर्थात् बारबार प्रयत्न करने से और वैराग्य से उसे वश मे अवश्य किया जा सकता है। कवि वृन्द के एक दोहे मे भी यही बात कही गई है—

करत करत अभ्यास के जडमति होत सुजान ।
रसरी आवत जावते सिल पर करत निशान ॥

कहा भी है—

ज्ञान क्रिया विन मोक्ष मिले नही,
श्रीजिन आगम माहि कही है।
एक ही चक्र से नाहि चले रथ,
दो विन कारज होत नही है।
ज्ञान है पांगुला अंध क्रिया मिल,
दोन फलाकरि राज ग्रही है।
कीजे विचार भली विध 'अमृत',
श्रीजिनधर्म को सार यही है।

अन्त मे मुझे केवल यही कहना है कि अगर हम अपने मनुष्यजन्म को सार्थक करना चाहते है तथा आत्मा को कर्म-बन्धनों से मुक्त करना चाहते है तो हमे सांसारिक सुख की असारता और संयोगो की अनित्यता पर विचार करते हुए उनके प्रति अपने चित्त मे स्थित राग, मोह और आसक्ति को नष्ट करना चाहिये। ऐसा करने पर हमारे हृदय मे निरासक्त भाव बढ़ेगा और संसार मे रहते हुए भी हम विदेह होकर रह सकेंगे।

यह अकाट्य सत्य है कि हमसे पूर्व इस संसार मे जो विदेह बन कर रहे है, उनकी आत्मा से हमारी आत्मा किसी भी दृष्टि से हीन नही है। उनकी आत्मा के समान ही हमारी आत्मा भी अनन्त बलशाली और अनन्त ज्ञान की अधिकारिणी है। आवश्यकता केवल उसे जगाने की है तथा उस पर पड़े हुए आवरणों को हटाकर उसकी शक्ति, ज्ञान और तेज को प्रकाश मे लाने की है और यह तभी प्रकाशित हो सकती है जब कि अज्ञान और मिथ्यात्व का पर्दा उस पर से हटा दिया जाये और कषाय, विषय-वासनाओं की मलिनता के स्थान पर वैराग्य की पवित्र भावनाओं को स्थापित किया जाये। इस प्रकार का संयोग हमारे मन, वचन और काया इन तीनों योगों मे से किसी के भी साथ न हो पाये जो कि कर्मबंधन का कारण बनता है। जो भव्य प्राणी ऐसा कर सकेंगे वे निश्चय ही अपने दुर्लभ मानवजीवन को सार्थक बनायेंगे।

[धर्म का स्वरूप, धर्म की महिमा, धर्म से ही सुख, करे धर्म, छूटे कर्म, मिले शिव-शर्म-आदि सूक्तियों का अध्यात्मपरक विश्लेषण]

१६ सुख का साधन—धर्म

□

जीवन के लिये धर्म मार्गदर्शक दीपक के समान है। धर्म-दीप की सहायता से ही मानव अपने वास्तविक कर्तव्य-पथ पर अग्रसर हो सकता है। जब तक मनुष्य के अन्तःकरण में धर्म की ज्योति नहीं जगती, उसका समस्त आचार-विचार और क्रिया-कलाप निरर्थक साबित होता है तथा वह आत्ममुक्ति के मार्ग पर एक कदम भी नहीं बढ़ पाता।

लेकिन दुःख की बात यह है कि आज के युग में धर्म उपेक्षा की वस्तु बन गया है। इसका कारण मानव की धर्म संबन्धी अनभिज्ञता ही है। वे नहीं जानते कि धर्म का सच्चा स्वरूप क्या है? केवल बाह्य क्रियाकाण्डों को धर्म समझ लेना तथा उनके कारण विभिन्न धर्मावलम्बियों को आपस में झगड़ते देखकर धर्म के नाम का ही त्याग कर देना, उनकी बड़ी भारी भूल है। हमारी नई पीढ़ी के युवकों का यही हाल है। वे स्वयं तो धर्म को समझने तथा उसके सच्चे स्वरूप को जानने का प्रयत्न नहीं करते, केवल दूर से ही धर्म के नाम पर होने वाले मत-भेदों और कलहों को देखते हैं तथा 'धर्म' नाम का त्याग करने में ही अपनी बुद्धिमानी मानते हैं। ऐसे नादान प्राणियों को ही धर्म का सच्चा स्वरूप संक्षेप में बताने का प्रयास किया जा रहा है।

मंगलमय-धर्म

जैन शास्त्र धर्म का जो स्वरूप प्रतिपादित करते हैं, वह इतना सरल,

प्रसूते सत्त्वानां तदपि न वध: क्वापि सुकृतम् ।

प्राणियों की हिंसा कभी और कहीं पर भी पुण्य को उत्पन्न करने वाली नहीं होती है। वह तो एकान्तरूप से जघन्यतम पाप ही है। इसलिये प्रत्येक प्राणी को हिंसा की भावना का परित्याग करके करुणा और दया की भावना को हृदय में स्थान देना चाहिये। दयावान पुरुष दूसरों को सुख पहुँचाता है तथा स्वयं भी सन्तोष और सुख का अनुभव करता है।

दया दो तरफी कृपा है। उसकी कृपा दाता पर भी होती है और पात्र पर भी। वास्तव में ही दया मानवता का सर्वोच्च लक्षण है, जिसे धारण करने वाला व्यक्ति परमशांति का अनुभव करता है। दयालु पुरुष 'आत्मवत् सर्व-भूतेषु' के सिद्धान्त को अपना लेता है तथा कबीर के शब्दों में कहता है—

दया कौन पर कीजिये का पर निर्दय होय।
साँई के सब जीव हैं कीरी कुंजर दोय॥

अर्थात् किस पर दया करें और किस पर न करें, छोटी-सी चींटी से लेकर विशालकाय हाथी जैसे सभी प्राणी तो एक ही परमात्मा के अंश हैं।

महापुरुष ऐसे ही समदर्शी होते हैं। उन्हें प्रत्येक प्राणी की आत्मा में परमात्मा दिखाई देता है। प्रत्येक आत्मा में परमात्मा को देखने वाले ऐसे महापुरुष ही धर्म के सच्चे स्वरूप को समझ सकते हैं तथा अहिंसा धर्म की आराधना कर सकते हैं।

धर्म का दूसरा स्वरूप संयम है। संयम का अर्थ है—नियंत्रण। अपने मन को वश में रखना तथा अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं पर नियन्त्रण रखना ही संयम कहलाता है। कोई भी व्यक्ति या देश जब अपनी आवश्यकताओं को सीमा से अधिक बढ़ा लेता है तथा अपनी कामनाओं पर नियंत्रण न रख सकने के कारण दूसरों के हक

जुटा लेने से नही होता अथवा झूठी प्रतिष्ठा और कीर्ति बढा लेने से भी नहीं होता है।

सासारिक भोगों का कहीं अन्त नही है। विचार करने की बात है कि क्या उन्हे भोगने से तृप्ति होती है? कभी नही। जिस प्रकार अग्नि मे निरतर आहुति डालते रहने पर भी वह शान्त नही होती उलटे भडकती जाती है, उसी प्रकार अनन्त भोग-सामग्री मिलने पर भी मनुष्य की भोगलालसा सदा अतृप्त ही बनी रहती है। धन की लालसा अथवा स्त्री, पुत्र, भाई, पिता आदि सासारिक सबन्धियों के प्रति मोह मनुष्य को अधा बना देता है और उसकी ससार से मुक्त होने की कामना पर पानी फेर देता है, किन्तु अगर मानव को इस ससारचक्र से छूटना है तो उसे अपना विवेक जगाना होगा। ससार के प्रति रही हुई अपनी आसक्ति का त्याग करना होगा। उसे सोचना ही पडेगा कि यह जीवन धर्म-साधना के लिये है, न कि ससार मे लिप्त रहकर आत्मनाश के लिये। ससार मे आसक्त रहने से आत्मा का कल्याण होना कभी भी सम्भव नही है। इसीलिये महापुरुष और सतजन आतरिक और बाह्य परिग्रह का त्याग कर धर्म का आश्रय लेते है वे स्वय भी ससार से विरक्त होकर आत्मसाधना करते है और ससार मे मुग्ध अन्य प्राणियों को भी उद्बोधन देते हुए कहते है—

> ढील करे मत तू छिन की कर ले झट सुकृत लाभ कमाई,
> बैठ एकान्त करो मन ठाम जपो जिनराज सुध्यान लगाई।
> दान, दया, तप, सजम मारग श्रीगुरु सेव करो चित्त लाई,
> 'अमृत' चित्त सतोष करो नरदेह धरे को यही फल भाई॥

कवि का कथन कितना सुन्दर और यथार्थ है। प्रत्येक मुमुक्षु को उससे शिक्षा लेकर धर्म को उसके सच्चे रूप मे अपनाना चाहिये तथा अपनी इस साधना मे ऐसा पुरुषार्थ जगाना चाहिये कि समस्त कर्मों के दृढबधन भी तडाक टूट जाये।

बन्धु ! जीवन अमूल्य और दुर्लभ है। अज्ञान और प्रमाद में पड़े रह कर उसकी उपेक्षा करना इसे मिट्टी के मोल गँवा देने के समान है। अतः प्रत्येक आत्मकल्याण के इच्छुक मानव को मंगलमय धर्म का आचार दृढ़ता से ग्रहण करना चाहिये। धर्म की अमरज्योति ही इस संसाररूपी अरण्य में भटकते हुए जीव को सही मार्ग बता सकती है तथा उसे अनन्त सुख और शाश्वत शान्ति रूपी अमरत्व की प्राप्ति करा सकती है। धर्म की शरण में जाने पर ही आत्मा का कल्याण और मंगल हो सकेगा।

[मानव जीवन का महत्व, कर्तव्य और श्रमनिष्ठा के साथ
उसकी सफलता सम्पादन करने की उदात्त प्रेरणा]

१७ ऊँघै मत बटोही !

☐

यह संसार विराट् है। जीव इस विराट् सृष्टि में नाना गतियों और नाना योनियों में भ्रमण करता आ रहा है। क्योंकि सभी प्राणी अपने-अपने संचित कर्मों के कारण ही संसार में आते जाते हैं और कर्म अनुसार भिन्न-भिन्न योनियों में पैदा होते रहते हैं।

इसीलिए कहा है—

सव्वे सयकम्म कप्पिया अवियत्तेण दुहेण पाणिणो।
हिण्डन्ति भयाउला सढा जाइ जरा मरणेहिऽभिद्दुया॥

—सूत्र० २—१८

अर्थात् प्राणी जन अपने-अपने कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न योनियों को प्राप्त हुए हैं। कर्मों की अधीनता के कारण एकेन्द्रिय आदि की अवस्थाओं में वे दुःखी रहते हैं। अशुभ कर्मों के कारण जन्म, जरा और मरण से सदा भयभीत रहकर गति चतुष्टय के रूप में संसार में भटकते रहते हैं।

सुनकर तनिक आश्चर्य होता है किन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर इसकी विराटता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। क्योंकि हम अपनी आँखों से ही इस भूतल पर अनेक प्रकार के जीव जन्तुओं को देखते हैं। अनेक जीव आकाश में उड़ते हैं, अनेक पृथ्वी पर चलते हैं तथा अनेकानेक जीव जल में [illegible] अपना जीवन व्यतीत करते हैं। इसके अलावा हम जितने [illegible]

पृथ्वी तक ही सीमित नहीं है। इसके ऊपर स्वर्ग है और नीचे नरक है, जिनमें देवता और नारकी अपना जीवनयापन करते हैं। अनन्तानन्त तिर्यंच जीव भी इसी संसार में रहते हैं। भले ही हम पूर्णतया इस जीव जगत की विशालता को न जान सकें पर कल्पना अवश्य कर सकते हैं।

अनमोल मानव जीवन

इसी विराट् संसार में हमने भी जन्म लिया है। हमारा जीव भी अनन्त-काल से असंख्य योनियों में जन्म लेता हुआ आज मानवयोनि को प्राप्त कर सका है। दूसरे शब्दों में कहें, इसे अनन्तानन्त कष्ट सहने के बाद तथा असंख्य कठिनाइयों को पार करने के पश्चात् महान् पुण्य कर्मों के संचय के फलस्वरूप यह मानवजीवन प्राप्त हुआ है। इस मानवजीवन की प्राप्ति के लिए तो देवता भी तरसते हैं—

> तओ ठाणाइ देवे पिहेज्जा—
> माणुस्स भव, आरिएखेत्ते जम्म सुकुलपच्चायाति ॥

—देवता भी तीन बातों को चाहते हैं। उनमें सबसे पहली है—मनुष्य जीवन और उस मनुष्य जीवन की प्राप्ति के साथ ही आर्यक्षेत्र में जन्म और श्रेष्ठ कुल की प्राप्ति। अर्थात् सबसे पहले मनुष्य जीवन की प्राप्ति दुर्लभ है। अतएव विचार करने की बात है कि असंख्य योनियों से बचकर मनुष्य योनि प्राप्त कर लेना कितनी कठिन और बड़ी बात है। इसीलिए वैदिक ऋषियों ने भी कहा है—मानव से बढ़कर विश्व में कोई श्रेष्ठ प्राणी नहीं है—

आध्यात्मिक दृष्टि मे जब हम विचार करते है तथा वीतराग प्रभु के वचनों पर ध्यान देते हैं तो हमे मालूम पडता है कि चरम-सीमा तक आध्यात्मिक विकास केवल मनुष्य ही कर सकता है। यद्यपि देवताओ को मनुष्य की अपेक्षा सासारिक सुख अधिक प्राप्त होते है, किन्तु आत्म-साधना और सिद्धि का जब सवाल आता है तो वे पीछे रह जाते हैं। देवता अधिक-से-अधिक प्रथम चार गुणस्थान प्राप्त कर सकते है किन्तु आत्मा की अनतशक्ति का उपयोग करने मे समर्थ मानव चौदह गुणस्थानो को पार कर परमात्मपद पा लेता है। इसीलिए पुण्यशील पुरुष अनेकानेक पुण्यो के फलस्वरूप पाये हुए मानव-जीवन को निरर्थक नही जाने देते है। उनका विश्वास होता है कि अगर पूर्वकृत पुण्य को इसी जीवन मे भोगकर समाप्त कर दिया और नवीन पुण्य तथा धर्म का सचय नहीं किया तो अनन्त काल तक उनकी आत्मा को पुन ससारभ्रमण करना पडेगा तथा नरक, निगोद तथा तिर्यंचगति की दुस्सह और भीषण यातनाये भुगतनी पडेगी। अगर मानव जीवन रूपी यह अवसर एक बार हाथ से चला गया तो उसका फिर से प्राप्त करना कठिन ही नहीं, वरन् असम्भव हो जायेगा।

मानव का कर्तव्य

मान लो कि यह मनुष्य शरीर मिल भी गया, लेकिन मानव के अनुकूल प्रवृत्ति नही करता, मानवता का समादर नही करता, नि स्वार्थ भाव से दूसरो की भलाई नही करता, वह मनुष्य के रूप मे पशु है। यदि मानव आकृति से जन है तो उसे सज्जन या महाजन बनने की कोशिश करना चाहिए, किन्तु दुर्जन बनने की कोशिश नही करना चाहिए। उसे ऊपर चढते रहना चाहिए, वरना नीचे गिर जायेगा।

जीवन का वैभव भौतिक धन-सम्पत्ति नही है, वरन् मानव के अपने सद्गुण है। समता, सेवा, सहिष्णुता और कर्तव्यपरायणता आदि ही मानव का वास्तविक सौन्दर्य है और इस वास्तविक सौन्दर्य को प्राप्त करना ही मानव जीवन का कर्तव्य है। लेकिन जो इस मानव शरीर को पाकर भी उसको वैसे ही गवा देत

है, अपनी आत्मा का कल्याण नहीं करते, उनसे बड़ा मूर्ख संसार में दूसरा कोई नहीं हो सकता है और नाना प्रकार की आधि-व्याधियों से पीड़ित होकर अत्यन्त दुःखी होता रहता है।

अतएव इस मानवजीवन को सफल बनाने के लिए बाह्य संयोगों से उदासीन होकर आत्म-साधना में लीन हो जावें। आत्मा की उपलब्धि ही मानवजीवन का सार है, कार्य है और इसी में कृतकृत्यता है। कहा भी है—

धर्मार्थकाममोक्षाणाम् मूलमुक्त कलेवरम्।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का साधन यह मनुष्य शरीर है। जो परिश्रमी और पुरुषार्थी होते हैं, वे मनुष्य शरीर का सदुपयोग करते हैं।

सिद्धि के लिए श्रमशील बनो

यह ठीक है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन सभी का साधन यह मानव शरीर है। लेकिन आप यह विचार कर निश्चिन्त न हो जाइये कि मानव शरीर पा लिया तो अब ये सब सहज ही प्राप्त हो जायेंगे। मोक्षप्राप्ति मानव शरीर में ही सम्भव है, परन्तु इसके लिए प्रयत्न करना पड़ता है। त्याग, तपस्या और साधना करनी पड़ती है तब मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है जो क्रोध, मान, माया, लोभ तथा राग-द्वेष आदि का सर्वथा त्याग कर चित्त को शुद्ध बनाये तथा समस्त सांसारिक पदार्थों से विमुख होकर दान, शील, तप और भाव की आराधना करे। जो प्राणी अपने विद्या, बल, बुद्धि, धन, जाति, कुल या प्रभुत्व के मद में चूर रहते हैं, उनके लिए मुक्ति पाना कठिन ही नहीं, असम्भव है।

क्रोध आदि कषायों के द्वारा आत्मा का जितना अहित होता है, उतना अन्य किसी भी शत्रु द्वारा नहीं होता है। कषायों के द्वारा जिसकी आत्मा कलुषित है, उसमें ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि सम्भव नहीं है, जैसे

कम्बल पर दूसरा कोई रग नही चढता है। जिसकी आत्मा पर कपायो का अधिकार हो जाता है तो उसके सद्गुण एक-एक कर नष्ट हो जाते है। कहा है—

कोहो पीइ पणासेइ माणो विणय नासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्व विणासणो॥

—दशवैकालिक अ० ८

क्रोध प्रीति का नाश कर देता है, मान विनय का नाश करता है, माया मित्रता का नाश करती है और लोभ समस्त सद्गुणो का नाश कर देता है।

ये कपाय तीव्र हलाहल विप है। विप तो एक बार प्राणो का नाश करता है, किन्तु कपाय मनुष्य को जन्मजन्मातरो तक पीडा देते रहते है। कपायो के आवेश मे व्यक्ति उचित-अनुचित का भान भूल जाता है। नाना प्रकार के घृणित, अशोभनीय और हानिकारक कार्य कर बैठता है तथा उस अवस्था मे दूसरो का नही, वरन् अपना ही अहित करता है। जब तक क्रोध आदि कपाय मन मे रहते है तब तक पण्डित और मूर्ख मे कोई अन्तर नही रहता है। इस सम्बन्ध मे तुलसीदास जी की यह मार्मिक उक्ति सुनिये—

काम, क्रोध, मद, लोभ की जब लो मन मे खान।
तब लो पडित मूरखा तुलसी एक समान॥

कपायो को बढाने से तथा उनके वश मे हो जाने से दुर्गुणो का सचय होता है और मुक्तिप्राप्ति की आशा अनन्त के गर्भ मे विलीन हो जाती है। कपायो द्वारा उपार्जित कर्मो का फल भोगने के लिए आत्मा को बार-बार जन्म-मरण करना पडता है और न जाने किस-किस योनि मे आत्मा दुख पाती हुई भटकती रहती है। इसीलिए आत्मा का हित चाहने वालो को मोक्ष प्राप्ति मे अन्तराय रूप क्रोधादि कपायो का त्याग कर देना चाहिए। जब तक कपायो का संयोग आत्मा के साथ है, मोक्ष-प्राप्ति असम्भव है।

हा, सम्भव केवल उन्ही को है जो क्रोध आदि कपायरूप शत्रुओ का

उन्मूलन करने के लिए सतत जागरूक रहते हैं और मोहनिद्रा में पड़े रहकर अपने मानव-जीवन को एक क्षण भी व्यर्थ नहीं गवाते हैं। वीतराग प्रभु मोह-निद्रा में सोये हुए प्राणियों को उद्बोधन देते हुए कहते हैं—

दुमपत्तए पण्डुयए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए।
एव मणुयाण जीविय समय गोयम मा पमायए॥
इइ इत्तरयम्मि आउए जीवियए बहुपच्चवायए।
विहुणाहि रय पुरे कड समय गोयम मा पमायए॥

—उत्तराध्ययन सूत्र

जैसे वृक्ष के पत्ते पीले पड़ते हुए समय आने पर झड जाते हैं, उसी प्रकार मानव जीवन भी आयु शेष होने पर समाप्त हो जाता है। अत हे जीव ! समय भर का भी प्रमाद न कर।

आयु नाशवान और स्वल्प है और जीवन मे विघ्न बहुत हैं। अतएव पूर्व-सचित कर्म रूपी रज को शीघ्र दूर कर। हे जीव ! समय मात्र के लिए भी प्रमाद मत कर।

सन्त महात्मा भी सदा आपको यही उपदेश देते हैं और मोह तथा प्रमाद या भान भुला देने वाली निद्रा से जगाने का प्रयत्न करते हैं। कहते हैं—

ऊँघे मत पथी जन ! ससार है अटवी वन,
काया रूपी नगर मे रहे काम चोर है।
जीव है बटाउ या मे आयकर वास कियो,
ठगिनि है पाच यां को मुलक में सोर है।
ज्ञानादिक गुण रूप रतन अमोल धर्म,
ऊँघे तो ले जाय लूट मिथ्यातम
तिलोक कहत सद्गुरु चोकीदार सी

हम देखते ही है कि जो व्यक्ति विषयभोगों मे आसक्त रहते है तथा मिथ्यात्व के अंधेरे मे मोह-निद्रा के वशीभूत होकर सजग नहीं रह पाते उनका सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूपी अमूल्य धर्मरत्न कषाय आदि ठग और वासना रूपी ठगनियाँ चुरा लेती है। परिणाम यह होता है कि मनुष्य अपनी मंजिल पर पहुँचाने वाली पूँजी खो बैठता है और पुन संसार रूपी अटवी मे भ्रमण करने को बाध्य हो जाता है। इसीलिए सत हृदय कवि अत्यन्त कोमल और वात्सल्यपूर्ण शब्दो मे उसे जगाते हुए कहते है—

तिलोक कहत सद्गुरु चोकीदार सीख,
धार रे बटाऊ ऊँघै मति भई भोर है।

कहा है—भोले बटोही ! अब तन्द्रा को छोडो। तुम्हारे सद्गुरु एक चौकीदार के समान तुम्हारे आत्मधन की निगरानी और रक्षा कर रहे है तथा तुम्हे प्रमाद रूपी निद्रा से सचेत कर रहे है। तुम उनकी शिक्षा को ग्रहण कर जाग उठो। प्रात काल हो गया है अत अपने आत्म-धन को सहेज कर इस ज्ञान रूपी प्रकाश मे सावधानी से कदम बढाओ।

हे पथिक ! जबकि पूर्वोपार्जित पुण्यो के फलस्वरूप तुम्हे यह मनुष्य का चोला मिल गया है तो अब प्रमाद मत करो। जप-तप-ज्ञान-ध्यान और भक्ति भाव की ओर बढो। सासारिक कार्य तो पानी को मथने के समान है, जिससे तुम्हे कुछ भी लाभ हासिल होने वाला नही है। इन कार्यों के करने से तुम परलोक के लिए पूँजी एकत्रित नहीं कर सकोगे। सब कुछ यही रह जायेगा। धन पैसा तुम्हारे साथ जाने वाला नही है। अगर तुम अपनी आगामी यात्रा के लिए कुछ इकट्ठा करना चाहते हो तो उसे पुण्य के रूप मे संचित करो। पुण्य कर्मो का सचय केवल धर्माराधन से ही होगा, जड द्रव्य इकट्ठा करने से नही। वास्तव मे धन दौलत आदि से आत्मा का तनिक भी कल्याण होना सम्भव नही होता। फिर भी अज्ञानी जीव इसी माया के पीछे मतवाला बना रहता है। कवि सुन्दरदास जी ऐसे व [illegible] ध देते है—

किन्तु 'विनाशकाले विपरीतबुद्धि' यह कहावत चरितार्थ हुई। साधु भाई ने तो अपना आग्रह दोहराया—'मुझे बड़प्पन और महानता नहीं चाहिए। अपना आधा राज्य चाहिए।'

'अगर ऐसा है तो आधा क्या आप पूरा ही राज्य लीजिये तथा अपना पवित्र बाना मुझे प्रदान कर दीजिए।' कहते हुए राजा ने अपने मस्तक से मुकुट उतारकर भाई के मस्तक पर रख दिया और स्वयं साधु वेष धारण कर वन की ओर चल दिया।

इसके बाद हुआ यह कि राज्य लेने वाले भाई का शरीर तो लम्बे काल तक तपस्या करने के कारण निर्बल हो चुका था, पौष्टिक खाद्य पदार्थों को नहीं पचा सका और विषयवासना की तीव्र आसक्ति से बीमार पड़कर केवल तीन दिन के अल्प काल में सातवें नरक का अधिकारी बना और उधर साधु बाना ग्रहण करने वाले भाई ने विचारा—मैंने साधु वेश तो धारण कर लिया, परन्तु जब तक गुरु की प्राप्ति नहीं होती, आहार-पानी कैसे ग्रहण करूँ? इस उत्तम भावना के साथ परिषह सहन करके उसने भी तीन दिन में ही शरीर त्याग दिया और सर्वार्थसिद्धि की प्राप्ति कर ली।

मन की गति कैसी विचित्र होती है। विकृत होने के पश्चात् न वह बाने की कद्र करती है और न ही लोकलज्जा की। क्षणमात्र में ही जीवन भर की साधना को भी धूल में मिलाने की स्थिति आ जाती है।

वस्तुतः विषयेच्छाओं की लीला बड़ी अद्भुत और शक्ति अपरम्पार होती है। किन्तु इस उदाहरण से यह आशय नहीं समझ लेना चाहिए कि वासनाओं पर विजय प्राप्त करना तथा मन का निग्रह करना सम्भव ही नहीं है। अगर ऐसा होता तो संसार में अनेकों महापुरुष तथा तीर्थंकर जैसी [illegible] किस प्रकार मोक्ष प्राप्त करते? मन को वश में किये बिना तो वे आत्म-कल्याण के पथ पर एक कदम भी नहीं बढ़ पाते।

मनोनिग्रह के उपाय

ससार के सभी प्राणी एक सरीखे नहीं होते। सभी अपने मन को दृढता से वश में नहीं रख पाते तथा विषयवासनाओं के प्रवाह में बह जाते है। अत शास्त्र उन्हें सावधान करते, जागरूक रखते, सचेत करते हुए इन्द्रियों और मन को वश में करने का उपाय बताते हैं। यथा—

स्वाध्याययोगैश्चरण क्रियासु
व्यापारणैर्द्वादश - भावनाभि ।
सुधीस्त्रियोगी सदसत्प्रवृत्ति —
फलोपयोगैश्च मनोनिरुन्ध्यात् ॥

अर्थात् स्वाध्याय योग मे मन को लगाकर, क्रियाओं मे सलग्न करके, अनित्यता, अशरणता आदि बारह भावनाओं मे जोड़कर और शुभ तथा अशुभ कर्मो के फल के चिन्तन मे लगाकर बुद्धिमान पुरुष मन का निरोध करने का प्रयत्न करे क्योंकि मन का स्वभाव प्रतिपल किसी-न-किसी प्रकार का चिंतन करना है। अत उसे स्वाध्याय आदि प्रशस्त क्रियाओं मे सलग्न करना चाहिए। अगर वह इन शुभ क्रियाओं मे लगा रहेगा तो उसे विषय वासनाओं की ओर जाने का अवकाश ही नहीं मिल पायेगा और धीरे-धीरे वह सध जायेगा तो विषयों की ओर से विरक्त होकर आत्मा मे स्थिर होगा।

सत्शिक्षा

मन के निग्रह करने के साधनो और जीव की स्थिति को आप अच्छी तरह समझ गये है। कषाय, इन्द्रियों के विषय आदि के वशवर्ती होकर जीव किस प्रकार अनन्त काल से विभिन्न योनियों में जन्म लेता चला जा रहा है तथा इस महायात्रा मे उसे बड़ी कठिनाइयों से मनुष्यजन्म रूपी अत्यन्त सुन्दर और [illegible]जनक पड़ाव मिला है। लेकिन यहाँ भी आकर आकर्षण और मोह मे [illegible] प्रमादमयी निद्रा मे सो रहा है। वह भूल गया है कि अभी मेरी यात्रा

हुए भी काले रग की होती है तथा किंपाकफल सुन्दर होते हुए भी प्राणनाश का कारण बनता है। इस प्रकार सृष्टि के समस्त प्राणी और पदार्थ जहाँ कुछ गुण रखते है, वहाँ अवगुणो को भी छिपाये रहते है।

गुणानुराग की भावना

लेकिन जिन व्यक्तियो का गुणो के प्रति अनुराग होता है, वे दूसरो के गुणो को देखकर प्रमुदित होते है। दानी पुरुष को देखकर उसकी सराहना करते है। तपस्वी को देखकर मन मे श्रद्धा के भाव लाते है। शीलवान के प्रति अपना मस्तक झुकाते है तथा सयमी पुरुष के लिए हृदय मे पूज्य भाव रखते है। गुणानुरागी व्यक्ति सदा यही भावना रखता है—

> **गुणी जनो को देख हृदय मे, मेरे प्रेम उमड आवे।**
> **बने जहाँ तक उनकी सेवा करके यह मन सुख पावे।**
> **होऊ नहीं कृतघ्न कभी मैं द्रोह न मेरे उर आवे।**
> **गुण-ग्रहण का भाव रहे नित दृष्टि न दोषों पर जावे॥**

कितनी सुन्दर भावना होती है गुणानुरागी व्यक्ति की, कि गुणी जनों को देखकर मेरे मन मे प्रेम उमड आये, मेरा मन खुशी से भर जाये। भले ही मुझ मे गुणो का अभाव हो, त्याग और तपस्या आदि मुझसे न हो पाये और धन के अभाव मे दान का लाभ भी न उठा सकूँ, पर मैं चाहता हूँ कि गुणज्ञ पुरुषों की सेवा अपनी शक्ति के अनुसार करूँ और उससे ही मन मे असीम प्रसन्नता का अनुभव करूँ।

इसके साथ ही गुणानुरागी विचार रखता है कि मैं कृतघ्न न होऊँ यानी दूसरे के द्वारा किये हुए उपकार को भूल न जाऊँ और उसके प्रति कभी भी बुरी भावना भी पैदा न हो। दुनिया मे चाहे अवगुण-ही-अवगुण भरे हो लेकिन मेरी दृष्टि गुणो पर ही जाय, मेरे मन मे गुण देखने की वृत्ति बनी रहे।

गुणानुरागी व्यक्ति के बारे में एक उर्दू के शायर ने कहा है—

> जो भले हैं वह बुरों को भी भला कहते हैं।
> अच्छे न बुरा सुनते हैं न बुरा कहते हैं॥

पाश्चात्य विद्वान एमर्सन का कथन है—

'प्रत्येक मनुष्य जिससे मैं मिलता हूँ, किसी-न-किसी रीति से मुझसे श्रेष्ठ होता है। इसलिए मैं उससे शिक्षा लेता हूँ।'

गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो जिज्ञासा होती है कि एक विद्वान को ऐसा सोचने की क्या आवश्यकता है? उसे अन्य व्यक्ति से क्या लेना है? पर नहीं, संसार में गुण अनन्त हैं और एक व्यक्ति यह समझे कि मैं अपनी बुद्धि से पढ़-लिख कर ज्ञानी बन गया, अब मुझे और कुछ प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है, तो यह उसकी भूल है। प्रत्येक छोटे-से-छोटे व्यक्ति में भी कोई-न-कोई गुण अवश्य होता है। इतना ही नहीं, सच्चे गुणग्राही पुरुष तो पूर्ण निर्गुण से भी शिक्षा लेने से नहीं चूकते हैं।

एक बार लुकमान हकीम से किसी व्यक्ति ने पूछा—

'आपने तमीज किससे सीखी?'

लुकमान ने सहज भाव से उत्तर दिया—'बदतमीजों से।'

'वह कैसे?' व्यक्ति ने साश्चर्य प्रश्न किया।

'क्योंकि मैंने उन लोगों में जो कुछ बुरी बातें देखी, उनसे परहेज किया।'

उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि जिस व्यक्ति की वास्तव में गुणदृष्टि होती है, वह बुराइयों में से भी अच्छाइयाँ खोज लेते हैं। पर ऐसे महापुरुष तो कदाचित् ही मिलते हैं। साधारणतया तो हम इससे उलटा ही देखते हैं।

आपने प्रायः सुना होगा कि जवासिया एक छोटा-सा पेड़ होता है। वर्षा ऋतु में जबकि सारी पृथ्वी हरी-भरी हो जाती है, वह सूख जाता है और जब ग्रीष्म ऋतु आती है तथा धरती पर के सभी लहलहाते वृक्ष सूखने लगते हैं, उनके पत्ते झड़ते हैं, तब वह हरा-भरा हो जाता है। अर्थात् पृथ्वी पर के फले-

फूले और हरे-भरे वृक्षों को वह नहीं देख सकता तथा ईर्ष्या की आग के मारे स्वयं भी सूख जाता है, पर जब अन्य वृक्ष सूखने लगते हैं तो उसे इतनी खुशी होती है कि स्वयं ही लहलहा उठता है।

यही हाल इन्सान का भी है। संसार में बहुत कम ऐसे व्यक्ति मिलेंगे जो औरों की उन्नति देखकर सच्ची खुशी का अनुभव करते होंगे। एक सुभाषित में कहा गया है—

नागुणी गुणिनं वेत्ति गुणी गुणिषु मत्सरी।
गुणी च गुणरागी च दुर्लभः सरलो जनः॥

इसका अर्थ है—अवगुणी व्यक्ति गुणवानों को नहीं जान सकता। यानी जिसमें स्वयं ही गुण नहीं है वह गुणियों की परख कैसे कर सकता है? गुणवानों को तो गुणवान ही पहचान सकते हैं। किन्तु दुःख की बात है कि गुणवान जो होते हैं, वे गुणवानों को जानकर भी उनका आदर नहीं करते तथा उनकी सराहना करने के बदले उलटा मत्सर भाव रखते हैं। एक विद्वान दूसरे विद्वान को देखकर ईर्ष्या करता है और एक श्रीमन्त दूसरे श्रीमंत की धनवृद्धि से जलता है।

इसीलिए श्लोक में आगे कहा है—

सच्चे गुणी और गुणानुरागी मनुष्य मिलना बड़ा दुर्लभ है। ये दोनों चीजें एक ही स्थान पर नहीं मिल सकती हैं। व्यक्ति स्वयं गुणवान हो तथा दूसरों के गुणों को देखकर आन्तरिक प्रसन्नता का अनुभव करता हो तो उससे बढ़कर अच्छाई और क्या हो सकती है?

कवि-कुल भूषण पूज्यपाद श्री तिलोकऋषि जी महाराज अपने एक कवित्त के द्वारा प्राणी को सदुपदेश देते हैं कि तू औरों की निन्दा मत कर, औरों के दोष मत देख। अगर देखना ही है तो अपने स्वयं के दोष देख, जिससे आत्म-शुद्धि हो सके। कवित्त इस प्रकार है:

छिद्र पर देख निन्दा करे केम छोड के छिद्र सुगुण लहीजे।
देख बबूल को कांटा ग्रहे मत छाया ते शीतल होय सहीजे॥
दुग्ध असार अहार है धेनु को छोर विगय तामें सार कहीजे।
तिलोक कहत स्वछिद्र को टालत काहे को अन्य का छिद्र गहीजे॥

कहा गया है—'हे प्राणी! तू दूसरों का छिद्रान्वेषण क्यों करता है? परदोष-दर्शन करके उनकी निन्दा करने से तुझे कौन-सा लाभ होने वाला है? कोई नहीं, अतः दूसरों के दोष देखना छोड़कर उनमें जो गुण हैं, केवल उन्हें ही ग्रहण करना सीख।

बबूल का पेड़ तेरे समक्ष है तो क्या यह आवश्यक है कि तू उसमें से कांटे ग्रहण करे ही? नहीं, कांटों को छूने की आवश्यकता नहीं है। असह्य धूप है और पास में अन्य कोई वृक्ष नहीं है तो तू दो घड़ी बबूल की छाया में बैठकर विश्राम कर। शूल वृक्ष पर है तो रहने दे, छाया में तो शूल नहीं हैं, बबूल के शूल रूपी छिद्रों को देखने से तुझे क्या लाभ है? और न देखे तो कौन-सी हानि है? फिर व्यर्थ का कार्य करना ही किसलिए? उसे न करना ही अच्छा है। यह तो अज्ञानी व्यक्तियों का कार्य है कि—

दोष पराया देखिके चला हसत हसत।
अपने याद न आवही जिनका आदि न अंत॥

इसलिए कवि श्री तिलोकऋषि जी महाराज का कथन है कि तू दूसरों के अवगुणों को देख-देख कर अपने अवगुणों में वृद्धि मत कर। और अन्त में कहते हैं—अरे अज्ञानी! अगर तुझे दोष ही देखने हैं तो औरों के क्यों देखता है। अपने ही क्यों नहीं देखता। औरों के दोष देखने में आखिर तुझे क्या लाभ होगा? अपने स्वयं के देख लेगा तो कुछ आत्मसुधार हो सकेगा। इसलिए उचित यही कि है अपने आप में झांक, आत्मनिरीक्षण कर। जिन्होंने ऐसा किया है, उनका कहना भी यही है—

बुरा जो देखन मै चला बुरा न दीखा कोय।
जो घर खोजा आपना मो सम बुरा न कोय॥

वस्तुत सच्चे महापुरुष अपना ही दोष दर्शन करते है।

गुणो का महत्त्व

गुण अपने आप मे सम्पूर्ण होते है। उनमे कोई दोष नही होता जिसे हटाने की आवश्यकता होती हो तथा कोई अधूरापन नही होता जिसे पूरा करने की जरूरत पडती हो। इसलिए उन्हे किसी की सिफारिश की भी आवश्यकता नही होती है, वे अपने आप ही सब स्थानो पर आदर प्राप्त कर लेते है। कहा भी है—

गुणा. सर्वत्र पूज्यन्ते पितृवशो निरर्थक ।
वासुदेव नमस्यन्ति वसुदेव न ते जना. ॥

गुणो का ही सर्वत्र सम्मान होता है, गुणी के वश का नही। लोग वासुदेव (कृष्ण) की ही वदना करते है, उनके पिता वसुदेव की नही। गुणी व्यक्ति चाहे अमीर हो या गरीब, छोटा हो या बडा, अपने गुणो के कारण ही प्रत्येक स्थान पर सम्मान प्राप्त करता है। कहा भी है—

'गुणा पूजास्थान गुणिषु न च लिग न च वय ।'

पूजा का स्थान केवल गुण ही है, उम्र अथवा लिग नही। प्राणी अपने गुणो से महान् बनते है, वैभव या ऊँची-ऊँची पदवियाँ प्राप्त कर कुर्सीधारी बन जाने से नही। चाणक्यनीति मे कहा भी है—

गुणै. सत्तमता यान्ति नोच्चैरासनसस्थितै ।
प्रासादशिखरस्थोपि काक. कि गरुडायते ॥

गुणो से ही मनुष्य महान् होता है, ऊँचे आसन पर बैठने से नही। महल के ऊचे शिखर पर बैठने से भी कौआ गरुड नही हो सकता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि महत्त्व केवल गुणो का होता है, लिग या वय का नही।

गुणाभिमानी न बनो

बंधुओ! अभी आपको गुणों का महत्त्व बतलाया है और यह भी बताया है कि गुणों की सर्वत्र पूजा होती है। साथ ही यह भी बताना आवश्यक है कि मनुष्य गुणों के साथ-ही-साथ कहीं गर्व का भी संचय न कर ले। अन्यथा उसके समस्त गुणों पर पानी फिर जायेगा।

इसीलिए कबीर ने कहा है—

कबीरा गर्व न कीजिए, कबहुँ न हँसिये कोय।
अबहुँ नाव समुद्र में को जाने का होय॥

कितनी सच्ची शिक्षा दी है कि किसी अन्य के अवगुणों को देखकर कभी उसका उपहास मत करो तथा अपने गुणों का गर्व मत करो। अभी तो स्वयं तुम्हारी जीवननौका भी संसार-सागर के मध्य में ही है। कौन जानता है कि पार उतरोगे या नहीं?

वस्तुतः सच्चा गुणवान वही है जो अपने आप में सदा कमियां देखता है। गुणवानों का सच्चा लक्षण यही है कि वे अपने आपमें उच्चता नहीं, वरन् लघुता महसूस करते हैं और उनकी लघुता की भावना ही उनकी महत्ता की प्रतीक है। जो भव्य प्राणी इस प्रकार अपनी अहंकार रूप दुर्बलता का त्याग कर देते हैं, वे ही इस लोक में प्रशंसा और परलोक में कल्याण के भाजन बनते हैं। इसलिए हमें अपनी बुद्धि और विवेक को जागृत करते हुए अनन्त पुण्यों के उदय से प्राप्त होने वाले इस मनुष्य जन्म को सार्थक करने का प्रयत्न करना चाहिए और यह तभी हो सकेगा जब कि हम गुणानुरागी बनेंगे।

अगर हम में प्रत्येक प्राणी के छोटे-से-छोटे गुण को भी ग्रहण कर लेने की लालसा बनी रहेगी तो एक दिन ऐसा अवश्य आयेगा कि संसार के समस्त सद्गुण हमारे हृदय में निवास करने को आतुर बनेंगे और उनके माध्यम से मोक्षपथ की समस्त कठिनाइयों को पार कर सकेंगे।

हमारे आगामी प्रकाशन

१ आनन्द वचनामृत

[आचार्य प्रवर के प्रवचन साहित्य में से चुने हुए सुभाषित तथा समय-समय पर कहे गये सुवचनों का संकलन]

२ भावना योग एक विवेचन

[भावना के सम्बन्ध में शास्त्रीय प्रमाणों के साथ विस्तृत विवेचन। शुभ भावनाएँ, अशुभ भावनाएँ। व्रत भावना, धर्म्य भावना, जिनकल्प भावना बारह वैराग्य भावना, चार व्यवहार भावना आदि का आगम एवं उत्तरवर्ती जैन साहित्य के आधार पर सर्वांगीण विवेचन]

विवेचक आचार्यप्रवर श्री आनन्दऋषि

सम्पादक श्रीचन्द सुराना 'सरस'

३ आनन्द प्रवचन भाग ५वां

[आचार्य श्री के नागपुर चातुर्मास के ऐतिहासिक प्रवचनों का महत्वपूर्ण संग्रह]

सम्पादक कमला जैन 'जीजी'

शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है
आचार्यप्रवर श्री आनन्दऋषि
अभिनन्दन ग्रन्थ

[आचार्यप्रवर श्री आनन्दऋषि जी महाराज के अमृत महोत्सव के उपलक्ष्य में एक अद्भुत व महान ग्रन्थ का प्रकाशन।

यह ग्रन्थ जैन विद्या का ज्ञान कोष होगा।

प्राकृत भाषा एवं जैनधर्म, दर्शन, गणित, ज्योतिष आदि विषयों पर अभिनव मौलिक सामग्री से मंडित। भारत के सैकड़ों मूर्धन्य मनीषी विचारकों, लेखकों, मुनिवर्गों के महत्वपूर्ण शोध लेख।

प्रतीक्षा कीजिए—]

☐

आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी

आनन्द वाणी

अर्थात्—पत्थर कड़ा होता है, परन्तु उस पर भी प्रतिदिन रस्सी के आने-जाने से गहरा निशान जिस प्रकार हो जाता है, उसी प्रकार अत्यन्त जड-बुद्धिवाला व्यक्ति भी अगर अभ्यास करता रहे तो ज्ञानवान बन सकता है।

मन के लिये भी ठीक यही बात है कि अगर पूरा प्रयत्न किया जाये और बार-बार उस प्रयत्न को दुहरा कर मनुष्य उसका अभ्यास करता रहे तो मन को स्थिर और सयमित बनाने में सफल हो सकता है।

मैंने आपको बताया है कि संसार में पाप कर्मों का बंधन मन, वचन और काया से होता है, पर यह भी ध्यान में रखने की बात है कि इन योगों से पाप जिस प्रकार लगता है, उसी प्रकार छूटता भी है। अगर ये बंधन में डालते हैं तो छुड़ाते भी ये ही हैं। जैसे आपके किसी दुश्मन का किसी प्रकार से अनिष्ट हुआ और आपके मन में इसकी खुशी हुई। बहुत अच्छा हुआ जो उसके व्यापार में घाटा हुआ, इतना ही नहीं और भी उसे दुःख उठाना पड़े तो अच्छा।

यह विचार केवल आपके मन में है, वचन और शरीर से उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ा, फिर भी आपके कर्मों का बंधन हो जायेगा। परन्तु उसी समय सुबुद्धि आ जाये, विवेक जागृत हो उठे तथा अपनी दुर्बलता के लिये गहरा पश्चात्ताप करते हुए आप विचार करने लगें—अरे, मैं कितना नीच हूँ जो किसी अन्य प्राणी का अनिष्ट चिन्तन कर रहा हूँ आदि आदि तो उसी मनोयोग के द्वारा, जिससे कि कुछ क्षण पहले आपके कर्म बँधे थे, उनकी निर्जरा होनी भी प्रारम्भ हो जायेगी किन्तु आवश्यक है कि आपका पश्चात्ताप हार्दिक हो, उसमें बनावट न हो।

यही बात वचन के लिये भी है। मान लीजिये किसी ने अन्य व्यक्ति को क्रोधावेश में आकर दुर्वचन कह दिये, किन्तु वही व्यक्ति उस व्यक्ति से जाकर कहे—मैंने [illegible] आपके हृदय को दुखाया है, मुझे ऐसा करना नहीं

कहना चाहिये था, उसके लिये आप मुझे क्षमा प्रदान करें तो ऐसे पश्चात्ताप पूर्ण वचनों के कहने पर उनके पाप नष्ट हो जाते हैं।

अब रहा शरीर-योग। शरीर से किया हुआ पाप भी शरीर के द्वारा छूट भी जाता है। उदाहरण स्वरूप आप चल रहे हैं, मार्ग में असावधानी से किसी को ठोकर लग गई और ठोकर लगते ही वह कराह उठा। अब अगर आप ठोकर लगाकर भी सीधे चले जाते हैं तो आपको उन्मी व्यक्ति गालियों की बख्शीश देगा किन्तु ठोकर लगते ही आप उसके समक्ष हाथ जोड़कर खड़े हो गये और माफी माग ली और सेवा कर दी तो वह पिघल जायेगा और आपको माफ कर देगा। सारांश यह कि पैर से ठोकर मारकर आपने हाथों से क्षमा माग ली, सेवा कर दी तो शरीर से लगा हुआ पाप शरीर से ही छूट भी गया।

तो स्पष्ट हो गया कि मन, वचन और काया इन तीनों योगों का कषायों के साथ सम्बन्ध होने पर पाप कर्मों का बंधन होता है और मन, वचन एवं काया से ही पाप कर्मों की निर्जरा भी होती है।

अत हमें प्रयत्न यह करना चाहिये कि प्रथम तो हमारे तीनों योगों का कषायों से सम्बन्ध ही न होने पाये और अगर असावधानी, प्रमाद या आवेश के कारण ऐसा हो जाये तो तुरन्त ही सच्चे पश्चात्ताप सहित हम उस पाप से छूट जाने का उपाय कर लें। अगर हम ऐसा कर सके, अर्थात् कषायों से तथा मोह से अपने आपको बचा सकें तो हमारी आत्मोन्नति का मार्ग निष्कटक बन जायेगा। मोहकर्म सभी अन्य कर्मों की अपेक्षा बलशाली होता है, वह बारहवें गुणस्थान तक भी आत्मा का पीछा नहीं छोड़ता और कभी-कभी तो वहाँ से लाकर पुन भव-परपरा में डाल देता है। मोह के वशीभूत होकर प्राणी अपनी आत्मा के कल्याण और अकल्याण का भी ख्याल नहीं रखता।

मनोनिग्रह का उपाय

बधुओ! मोहकर्म की शक्ति वास्तव में ही अत्यन्त प्रबल होती है, अत प्रयत्न और अभ्यास से कषायों के साथ-साथ इसे जीतने का प्रयत्न करना

चाहिये । जब तक ये मन पर छाये रहते है, वह स्थिर नही रह पाता । अत जो मुमुक्ष अपने मन को स्थिर और सयमित करना चाहता है, उसे सर्वप्रथम इन सब दोषो को दूर करना पडेगा और यह अभ्यास से ही हो सकता है, जैसा कि श्रीकृष्ण ने कहा है—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।

श्रीकृष्ण ने मन को वश मे करने के दो उपाय बताये हैं—एक अभ्यास और दूसरा वैराग्य ।

अभ्यास के बारे मे कुछ विचार किया गया, अब वैराग्य के बारे मे विचार करते है । सहज ही जिज्ञासा होती है कि वैराग्य की आवश्यकता किसलिये पडती है । इसका समाधान यही है कि किसी भी दोष का नाश उसके विरोधी गुण को ग्रहण करने से हो सकता है । तदनुसार कषाय व राग-द्वेष का विरोधी वैराग्य है, अत उन्हे नष्ट करने के लिये वैराग्य को ग्रहण करना चाहिये ।

ज्ञानी पुरुषो ने वैराग्यभाव के रूप मे जीवन को सम्यक् मोड देने वाली एक महिमामयी कला का आविष्कार किया है । यह कला हमारी आत्मा के लिये अत्यन्त हितकर है । जब तक मानव के हृदय मे रागद्वेष रूपी विकार विद्यमान रहते है तब तक वह वैराग्य परिणति का विकास नही कर पाता । परिणाम यह होता है कि वह सच्चे सुख का अनुभव नही कर सकता और दुखो से छुटकारा नही पा सकता । आत्मा मे विरक्त भावना के होने पर उसे कोई भी अपना शत्रु दिखाई नही देता और इसके कारण भय की भावना उसके समीप भी नही फटकेगी । इसीलिये भर्तृहरि ने कहा है—

'सर्वं वस्तुभयान्वित भुवि नृणा वैराग्यमेवाभयम् ।'

इसलिये आत्मकल्याण के अभिलाषी व्यक्ति को सर्वप्रथम अपनी कामनाओं पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये तथा आत्मा को बन्धन मे [illegible] और हीन और निर्बल बना देने वाली समस्त आशाओं का त्याग करके

सच्चा विरक्तिभाव अपनाना चाहिए। जो ऐसा करने में समर्थ हो जाता है, वही सच्चा मुनि तथा वीर कहलाने का अधिकारी होता है।

बौद्धग्रन्थ के प्रसिद्ध ग्रन्थ धम्मपद में कहा है—

> येसं सम्बोधि अंगेसु सम्माचित्तं सुभावितं।
> आदानपटिनिस्सग्गे अनुपादानये रता।
> खीणासवा जुतीमन्तोते लोके परिनिब्बुता॥

अर्थात्—इस संसार में वही मुक्त हैं जिन्होंने ज्ञान के सब अंगों से चित्त को सुव्यवस्थित कर रखा है, जो किसी भी वस्तु में लगे-लिपटे नहीं हैं, जो किसी पर मोह नहीं रखते और जिनकी वासना नष्ट हो गई है।

वैराग्य का उत्पादक

वास्तव में वस्तुस्वरूप का सम्यक् ज्ञान वैराग्य का जनक है। जो मनुष्य संसार के अनित्य और निस्सार स्वरूप का ज्ञान कर लेता है और यह समझ लेता है कि आनन्द जड़पदार्थों में नहीं, आत्मा के अन्दर ही छिपा हुआ है तो स्वतः ही उसके हृदय में वैराग्य की निर्झरणी प्रवाहित होती है और सच्चे ज्ञान का अधिकारी बनता है। अन्यथा उसका ज्ञान लोगों को भुलावा देने के अलावा और कुछ नहीं माना जा सकता है।

अतएव मेरे बन्धुओ! हमें अपने ज्ञान का सही उपयोग करना चाहिये, उसकी सहायता से संसार के पदार्थों का और आत्मा के सच्चे स्वरूप का निश्चय करना चाहिये, तत्पश्चात् उसे अपने आचरण अर्थात् क्रिया में उतारते हुए अपने मन, वचन और काय इन तीनों योगों पर संयम रखते हुए आत्म-साधना में जुट जाना चाहिये। कोरे ज्ञान से हमारा उद्देश्य कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता, जब तक कि उसका उपयोग तीनों योगों को नियंत्रण में करते हुए आचरण को शुद्ध और दृढ़ न बनाया जाय।